श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

गोस्वामी श्रीहरिकृष्णशास्त्रिविरचित

श्रीआचार्यविजय

हिन्दी अनुवाद

आविर्भूतो महायोगी द्वितीय इव भास्करः।
रामानन्द इति ख्यातो लोकोद्धरणकारणः।।

प्रकाशक

डॉ. स्वामी राघवाचार्य वेदान्ती

जगद्गुरु अग्रदेवाचार्यपीठ श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर, रेवासा (सीकर)

मान्यवर ! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, कि अभी यहाँ पर पूर्व पक्ष की स्थापना करने वाले विद्वान् ने स्वपक्ष की पुष्टि हेतु जो तर्क एवं युक्तियाँ रखी है । वे सभी विद्वत्ता से परिपूर्ण है, किन्तु अभी तक वे भ्रान्ति के गर्त से अपने को स्वयं निकाल नहीं पाये हैं । अतः ऐसी वाणी का व्यवहार करने वाले आचार्यगण भी ऐसे ही व्यसनों से आक्रान्त होकर वैसे ही हो जाया करते हैं कहा गया है-

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

ब्रह्म नहीं है ऐसा जो कहता है वह स्वयं असत् हो जाता है और जो ब्रह्म हैं ऐसा जानता है वही अस्तित्ववान् है ऐसा जाने ।

यह तैत्तरीयोपनिषद् की भी श्रुति है-इसका अभिप्राय है कि जो ईश्वर को नहीं मानता और न ही ब्रह्म सत्ता को स्वीकार करता है वह स्वयं ही न होने के समान है उसकी सत्ता कहीं भी प्रतिभासित नहीं हो सकती । न तो वह मानव शरीर प्राप्त कर पाता है और न ही दूसरे जन्म में जन्म एवं मृत्यु के कष्ट से मुक्त ही हो सकता है । पूर्वपक्षी ने अनीश्वरवाद का ही यथा बुद्धि और यथा शक्ति प्रतिपादन किया है और कहा है कि ईश्वर वाद तो कल्पनामात्र है ।

किन्तु दुराग्रह ग्रस्त और सत्य वस्तु के देखने में भी सन्त्रस्त एवं व्यस्त भ्रमरूपी अन्धकार में मग्न सत्य का अन्वेषण करने वाले प्रशस्त मार्ग से भटक गये हैं । अविद्या से मोहित होकर मिथ्या ज्ञानरूपी कंटीले वृक्षों से युक्त घनघोर अंधकार वाली पगडंडी पर कुप्रथारूपी खोटे प्रकाश से आभासित गति वाले होकर घूम रहे हैं । अधिक क्या कहा जाए, जिसकी किरणें चारों और फैली हुई है जो ईश्वरवाद, प्रचण्ड मार्तण्ड के समान सदा सर्वथा सुलभ है । पूर्वाचार्यों ने त्रिकाला बाधित सनातन सिद्धान्तों एवं युक्तियों के द्वारा जिस ईश्वरवाद का प्रतिपादन किया है उस पर भी यदि किसी की कुबुद्धि सन्देह करती है तो केवल यही कहा जा सकता है कि वह सूर्य के सर्वत्र प्रकाशित रहने पर भी उलूक के समान उसके प्रकाश से डरकर अपने को गुफा में छिपा लेता है । और दिन में भी किसी पदार्थ को देख नहीं पाता, तो इसमें उल्लू के चरित्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और अधिक क्या कहा जाय ।

अच्छा सर्वप्रथम ईश्वर सिद्धि के पूर्व उसके स्वरूप का निर्णय किया जा रहा है-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ''जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्'' इत्यादि श्रुतियों एवं सूत्रों से भगवान् के द्वारा संसार की रचना का प्रतिपादन किया गया है। वही इस जगत् का उपादान कारण भी है जैसे- स्वयं उसी ने अपने को ही जगत् के रूप में बनाया, एक हूँ बहुत रूपों में हो जाऊँ, प्रजा की सृष्टि करूँ, नाम और रूप को बनाया वही सत् और त्यद् हुआ, उसने रचना की, पहले तेज को बनाया इत्यादि। सैकड़ों वचन स्थान-स्थान पर ईश्वर ही सबका कारण है। यही प्रतिपादित करते हैं। उसी प्रकार वह परमात्मा सबका निमित्त कारण भी है। संसार की उत्पत्ति और प्रलय उसी से हो रहे हैं।

''यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत् प्रयन्त्यमिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व ब्रह्मेति'' ॥

किञ्च- **पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।**
पुरः स पक्षी भूत्वा सन् पुरः पुरुष आविशत् ॥

जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा इनका पालन पोषण होता है। और पुनः जिसमें समाहित हो जाते हैं। उसकी जिज्ञासा करों वही ब्रह्म है। उस परमेश्वर ने पहले दो पैर वाले प्राणी बनाये तत्पश्चात् चार पैर वाले पशुओं का निर्माण किया पक्षियों का निर्माण करके उन्हीं सब स्वनिर्मित जीवों के शरीर में यह विराड् पुरुष प्रविष्ट हो गया।

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति हुई। उस ब्रह्म ने स्वयं अपने को ही सभी रूपों में अलग-अलग नामों से प्रकट कर उन सब में स्वयं अर्न्तर्यामी रूप से प्रवेश कर चर और अचर मेरी ही आत्मा है, यह सिद्ध किया।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि- ब्रह्म ही प्रकृति नामक अपनी शक्ति का आश्रय लेकर लोकों की सृष्टि करके तथा उनमें अर्न्तयामी के रूप में प्रवेश कर ब्रह्मा आदि की बुद्धि तथा इन्द्रियों को नियन्त्रित किया।

वह ईश्वर ही सबका नियामक है।

जो पृथ्वी के भीतर है किन्तु उसको पृथ्वी नहीं जानती। जिसका शरीर पृथ्वी है। जो पृथ्वीके अन्दर रहकर उसको सम्हालता है वही परमात्मा

अन्तर्यामी है इसी प्रकार जल में, अग्नि में, अन्तरिक्ष में, वायु में, सूर्य में, दिशाओं में, चन्द्र एवं तारागणों में आकाश में, अन्धकार में, तेज में सभी प्राणियों में, प्राण में, वाणी में, नेत्रों में, कानों में, मन में, त्वचा में विज्ञान में शुक्र में सर्वत्र उस ईश्वर की व्याप्ति है । आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तीनों रूपों एवं अन्तर्यामी रूप में उसकी उपस्थिति है । वह सबका नियामक है इसका प्रतिपादन करके और उसी के लिये न दिखाई पड़ने पर भी वह द्रष्टा है, न सुने जाने पर भी वह श्रोता है ज्ञात न होने पर भी वह ज्ञाता है यह निर्देश करते हुये यह सिद्ध किया गया कि उसके अतिरिक्त कोई भी द्रष्टा, श्रोता मन्ता एवं विज्ञाता नहीं है । इस प्रकार विशिष्ट रूप से अन्य का निषेध स्पष्ट रूप से किया गया है ।

योग दर्शन में भी कहा गया है-क्लेश कर्म परिणाम एवं मलादि से विरहित जो पुरुष विशेष है, वही ईश्वर है । गीता में भी कहा गया है-जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर पालन करता है ।

अन्यत्रापि- **''उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम् ।**
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥

अर्थात् उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियों का गमनागमन, विद्या माया तथा अविद्या माया को जो जानते हैं । उन्हें भगवान् कहते हैं ।

वेद स्वयं ही प्रमाणस्वरूप है । भगवान के निःश्वास होने से एवं सर्व तन्त्र स्वतन्त्र होने से वेदों को अन्य से प्रमाणित होने की आवश्यकता नहीं है । ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद भगवान के निःश्वास ही है । अथवा वे स्वयं ही उत्पन्न हुये हैं । क्योंकि लिखा है । जिसने आदि कवि ब्रह्माजी को वेद का ज्ञान संकल्प मात्र से प्रदान किया शतपथ भी यही प्रमाणित करता है ।

तथाच- **''अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।**
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

एवमेव हि- **''सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।**
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

ये वेद अनादि हैं, नित्य है, स्वयम्भू है । प्रथम या आदि होने के कारण इनसे ही सभी प्रवृत्तियों (व्यवहारो) का प्रचलन हुआ है । इसी प्रकार

सभी के नाम और कर्म तथा स्थिति अलग-अलग सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने वेद शब्द से निश्चित किया ।

इसी प्रकार जैसे प्रदीप्त अग्नि से चिनगारियाँ स्वत: निकलती है, इसी प्रकार ऋग्यजुः साम अथर्ववेद भगवान् के सहज नि:श्वास हैं । समस्त वेदों का प्रतिपाद्य एक मात्र परमेश्वर ही है । सभी वेदों का पर्यवसान ब्रह्म में ही होता । सभी वेद जिसकी महत्ता को स्वीकार करते हैं । सभी वेदों के द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ । वही वेदों के द्वारा जानने योग्य भगवान् राम नरावतार में दशरथ पुत्र बनकर अवतरित हुये । क्योंकि सृष्टि के पहले सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था । तब भगवान् स्वयम्भू रूप से प्रकट हुये । इसके पश्चात् उन्हीं के द्वारा तप एवं ज्ञानमयी शक्ति से सृष्टि की रचना हुई है । यह दूसरा प्रकार क्रमसृष्टि का ऋग्वेद के अष्टक ८१ अ. ७ में कहा गया है । तम ही था तम से घिरा संसार पहले था । जल ही जल था ।

प्रलयकाल में जो भगवान् में विलीन हुआ था वही ब्रह्माजी की तपस्या से सृष्टिकाल में उत्पन्न हुआ इसी प्रकार जो व्यवस्था पूर्वकल्प की थी वही वर्तमान कल्प की है इसी रीति से ब्रह्माजी के द्वारा पूर्वकल्पों के अनुरूप ही सृष्टि की जाती है यह बात ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में भी स्पष्ट रूप से कही गई है । ऋत और सत्य ब्रह्माजी की तपस्या से उत्पन्न हुए फिर रात्री तदनन्तर समुद्र, अर्णव, इनके बाद संवत्सर दिन, रातें बनाई, सर्वशक्ति सम्पन्न सूर्य चन्द्रमा को धाता ने पूर्व कल्प के अनुसार बनाया, और दिव लोक भू और अन्तरिक्ष स्वर्ग अर्थात् भू: भुव: स्व: को बनाया ।

ऋत वह तत्व है जो निस्सीम है, विस्तृत है, तथा सर्वत्र व्याप्त है । इसी प्रकार सत्य भी वही है जो अपने केन्द्र का निर्माण करके केन्द्र की परिधि में ही सीमित होकर रहता है । इस प्रकार समस्त विश्व ऋत एवं सत्य से व्याप्त है ।

अभीद्धा-अर्थात् सूर्य से समाक्रान्त होकर माघ मास से प्रारम्भ होकर सूर्य से उद्‌भूत अग्नि ऋत और सत्य के नाम से उत्पन्न हुई । उनसे रात्रियों का जन्म हुआ । उसके बाद समुद्र जहाँ अन्तरिक्ष भाग में ऋत नामक अग्नि पूर्ण रूपेण व्याप्त है वह समुद्र है । तथा जिस अन्तरिक्ष भाग में ऋता अग्नि का ह्रास है वह अर्णव या सागर है । उस समुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ इस

प्रकार रात्रि एवं दिन को प्रकट करने वाला इस विश्व का स्वामी वह ईश्वर सूर्य और चन्द्र का भी उत्पादक है। उसी ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गलोक का निर्माण किया। कल्पभेद से यह दूसरा सृष्टिक्रम है। किन्तु जिस किसी भी प्रकार से होने वाली सृष्टि एकमात्र ईश्वर की ही रचना है। यह सिद्ध है। शास्त्रों में अनेक प्रकारों का निर्देश मिलता है जैसे अथर्ववेद।

ऋग्वेदेऽप्यन्यत्- **''हिरण्यगर्भः समवर्तताऽग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।**
यः सदाऽऽधार पृथिवीं द्यामुतेमां'' इति-

प्राणियों में परमेश्वर ने ब्रह्मा को सबसे पहले जन्म दिया। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा गया है कि जिन्होंने पहले ब्रह्मा को प्रकट किया फिर ब्रह्मा को वेद का ज्ञान प्रदान किया। ऋग्वेद में भी समस्त भूतों के स्वामी और जनक एक हैं उन्होंने हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को सबसे पहले बनाया। जो सदैव पृथ्वी द्यौ आदि लोकों के आधार सभी का पालक और स्वामी कहा गया है। इस प्रकार भगवान् में ही सारे संसार का धारकत्व परिपालकत्व और ईशत्व प्रतिपादित किया गया है। आचार्य शिष्य को कहते हैं कि ये जो दृश्यमान जगत् है इससे पहले एकमात्र परमात्मा ही था और कुछ भी चेष्टायुक्त नहीं था, उसी ने इन समस्त लोकों की रचना की है। ये बात ऐतरेय उपनिषद में स्पष्ट है।

इसी प्रकार ईशावास्योपनिषद् में भी वर्णन है कि इस संसार में जो कुछ भी जड़ चेतनात्मक वस्तु है वह ईश्वर से व्याप्त है वृहदा. में भी वह परमात्मा ही विश्व का रचयिता है वही सभी का कर्ता है छान्दोग्य....हे सौम्य! सामने दिखायी देने वाला जगत् सृष्टि से पूर्व परमात्मा में विलीन था उस समय अद्वितीय एकमात्र परमात्मा ही था और वहीं जो परमात्मा है वही सबका धारक है। मुण्डको. जो अर्चिमान् है जो अणु से अणु है जिससे समस्त लोक और लोक निवासी सुरक्षित हैं। हे सौम्य! यह अक्षर ब्रह्म है वही प्राण है वही वाणी और मन है वही सत्य है वह अमृत है वही ज्ञातव्य है उसी को जानों। इसी प्रकार केनोपनिषद् में भी वर्णन है कि जो परमात्मा श्रवण इन्द्रिय का कारण है अर्थात् श्रवण इन्द्रिय में सुनने की शक्ति जिससे है इसी प्रकार मन, वाणी, प्राण, नेत्र आदि इन्द्रियों का कारण है ज्ञानीजन जिसको जानकर जीवनमुक्त होकर शरीर त्यागने के पश्चात् आवागमन से

रहित हो जाते हैं। इसी प्रकार कठोपनिषद् में- जो समस्त प्राणियों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से रहकर अकेले ही सभी को वश में रखता है जो एक है और जो एक होकर संसार की विविध प्रकार की रचना करता है। और समस्त वेद जिस परमात्मा का सतत वर्णन करते रहते हैं और समस्त तपस्याओं का लक्ष्य तो परमात्मा है जिसको लक्ष्य करके लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह तत्त्व संक्षेप में ॐ है।

वाल्मीकीय संहितायाम्- "भगवान् रामचन्द्रोवै परं ब्रह्म श्रुतिश्रुतम्।"
सनत्कुमार संहितायाम्- "रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात्किञ्चिन्न विद्यते।
गौतमसूत्रेऽपिः- "ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।
मनुस्मृतौ च "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वदा॥
शिवपुराणे- "अचक्षुरपि यः पश्यत्यकर्णोऽपि शृणोति यः।
सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहुः पुरुषं परम्।"
श्रुतिरपि- "अपाणिपादो जवनोगृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"
श्रीविष्णुपुराणेऽपि-"सृष्टिं स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म-विष्णु-शिवाऽभिधाम्।
स संज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दनः॥"
वृहन्नादीये पुराणे- "नारायणोऽक्षरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरञ्जनः।
तेनेदमखिलं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम्॥
वाल्मीकीये रामायणे- "परं ब्रह्म परं तत्त्वं परं ज्ञानं परं तपः।
परं बीजं परं क्षेत्रं कारणकारणम्॥

तथैव महाभारतेऽप्यनुशासनपर्वणिभीष्मपितामहस्य वचनम्-

परमं यो महद्ब्रह्म, परमं यो महत्तपः
"पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्।
दैवतं दैवतानाञ्च भूतानां योऽव्ययः पिता॥"

"लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं स वै दुःखातिगो भवेत्।" श्रीमद्भागवतेऽपि-

"ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
"दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते"

(३ । ३२ । २६) स्कं०-अ० श्लो०

गीतायाञ्च- ईश्वर; सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"

किञ्च- **''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।**
कर्माध्यक्षः सर्वभूताऽधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति. ।

और इसी प्रकार राम तापनीयोपनिषद् में ॐ पद वाच्य जो श्रीरामचन्द्र हैं वही अद्वितीय परमानन्द आत्मा भगवान् हैं । मैथिली महो.- परात्पर ब्रह्म श्री भगवान् जो निखिल हेय गुण से रहित हैं जो समस्त संसार के आदि कारण है । तथा अपरिमित तेज:पुञ्ज ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा उपासनीय हैं वही दशरथनन्दन ही प्राप्य हैं पुरुषसूक्त- भूत, भविष्य, वर्तमान .उपाधि से युक्त काल आदि समस्त रूप वाला परमेश्वर ही है इसी प्रकार वाल्मीकि संहिता में श्री रामचन्द्र भगवान् ही परब्रह्म है यह श्रुति में प्रसिद्ध है सनत्कुमार संहिता-सच्चिदानन्द परब्रह्म श्रीराम से बढ़कर कोई नहीं है । गौतम सूत्र में- जीवों में कर्मफल को देखने से निश्चित होता है अर्थात् मनुष्य की इच्छा के अनुरूप कर्म का फल नहीं मिलता है इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य पराधीन है कर्मफल भी पराधीन है जिसके अधीन है वह ईश्वर है । मनुस्मृति में भी यह जगत् पहले अन्धकारमय अज्ञानस्वरूप अतर्क्य अविज्ञेय एवं सुप्त जैसे था उसके बाद स्वयं अव्यक्त भगवान् ने जगत् को प्रकट करते हुए अन्धकार को हटाकर महाभूतादि को प्रकट किया । शिव पुराण में भी जो बिना नेत्र के देखता है बिना कान के सुनता है जो सबको जानता है जिसको जानने वाला कोई नहीं है उसी को परमात्मा कहते हैं श्रुति भी बिना हाथ के ग्रहण बिना पैर के गमन बिना नेत्र के देखता है और बिना कान के सुनता है, श्रीविष्णु पुराण में भी वही एक ही परमात्मा उद्भव, प्रलय, संहार करने के कारण ब्रह्म, विष्णु और शिव नाम को धारण करता है । बृहन्नारदीयपुराण- नारायण अक्षर अनन्त जो सर्वव्यापी है निरञ्जन है उन्हीं के द्वारा ये सारा जड़ चेतन व्याप्त हैं वाल्मीकीय रामायण- वह परमात्मा ही सभी कारणों का कारण है इसी प्रकार महाभारत में जो सर्वश्रेष्ठ तेज है जो सभी का आश्रय है जो परम व्यापक तत्त्व है जो परम तपस्वरूप है जो पवित्रों में पवित्रतम है मंगलों का भी मंगलकर्ता है और जो देवताओं का भी देवता है और समस्त प्राणियों का सनातन पिता है । श्रीमद्भागवत- समस्त लोकों के मालिक की नित्य स्तुति करता हुआ जीव दु:खों से परे हो जाता है । स्कन्द पुराण में भी वह एक ही परमात्मा परब्रह्म परम पुरुष भगवान् ही विभिन्न घट पट इन्द्रियादि रूपों से वही प्रतीत होते हैं । गीता में भी- हे

अर्जुन ! सारे संसार के शासक प्रभु समस्त प्राणियों के हृदय स्थान में रहकर अपनी माया के द्वारा सभी भूतों को संचालित करते हैं । जैसे यन्त्र के द्वारा कठपुतली का संचालन पर्दे के पीछे रहकर उसका संचालक करता है उसी प्रकार माया जवनिका के सहारे संसार का संचालन प्रभु करते हैं इत्यादि सैकड़ों प्रमाण वेद स्मृति इतिहास पुराणों में विद्यमान है । और भी एक ही देवता समस्त भूतों में छिपा हुआ जो सर्वत्र व्याप्त है सभी प्राणियों की अन्तरात्मा है सभी कर्मों का अध्यक्ष है समस्त भूतों में निवास करता है अन्तर्यामी रूप से साक्षी है चैतन्य है और एकमात्र समस्त सद्‌गुणों को धारण करने वाला है अथवा समस्त गुणों का उद्‌गम स्थान है ।

इस प्रकार वेदों, 'उपनिषदों" स्मृतियों एवं पुराणों में सैकड़ों उक्तियाँ विद्यमान है । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'' इससे सिद्ध होता है कि वही एक परमात्मा अन्तर्यामी रूप में सर्वत्र व्यापक है । सभी की अन्तरात्मा है । सब का अध्यक्ष है । प्राणियों के भीतर निवास करने वाला, साक्षी भूत, चेतन और अद्वैत है । ईश्वर की सत्ता त्रिकालाबाधित है । ईश्वर के बिना सृष्टि भी असम्भव है जैसे पृथ्वी के बिना कही भी धान्यादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती ठीक इसी प्रकार ईश्वर के बिना सृष्टि की उत्पत्ति सम्भव नहीं ।

पूर्व पक्ष में सांख्य सिद्धान्त वादियों में जो कथन और युक्तियाँ प्रस्तुत की है वे सभी भ्रान्ति मूलक है । यदि उन युक्तियों के भीतर प्रवेश करके सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वहाँ पर भी ईश्वर की सत्ता विद्यमान है ।

यद्यपि पूर्व पक्ष वालों ने अनीश्वरवाद प्रस्तुत किया है, किन्तु उनकी धारणा केवल धारणा ही है । वास्तविकता नहीं है । क्योंकि सांख्य शास्त्र में भी ईश्वर प्रतिपादक सूत्र विद्यमान है-जैसे 'स हि सर्ववित् सर्व कर्त्ता इत्येश्वर सिद्धिः सिद्ध'' । अर्थात् वहीं सब कुछ जानने वाला और सब कुछ करने वाला है, इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि हो जाती है । यदि सांख्य के द्वारा स्वीकृत पुरुष निष्क्रिय और तटस्थ है तो वह कैसे कर्ता हो सकता है । वहाँ तो प्रकृति जड़ है पुरुष संयोग से ही सब कुछ स्मरण करके सृष्टि करती है न कि स्वतः । इसलिए पुरुष का स्वतः कर्तृत्व सिद्ध हो जाता है क्योंकि प्रकृति बिना पुरुष के संसर्ग के कुछ भी करने में समर्थ नहीं होती अतः पुरुष

ही सृष्टिकर्ता हुआ । गीता में भी सांख्य सिद्धान्त का प्रतिपादक भगवद् वाक्य दिखायी देता है ।

यत्- **न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।**
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ (९ । ९)

हे अर्जुन ! कर्म हमको बाँधते नहीं है क्योंकि उन कर्मों को निरासक्तभाव से उदासीन होकर करता हूँ । यहाँ पर भी भगवान् के द्वारा कर्मबन्धन से रहित होना तटस्थभाव से प्रकृति के द्वारा किये गये कार्यों का प्रेक्षक है । कर्मों के प्रति आसक्ति रहितता का ही प्रतिपादन है न कि किसी प्रकार से अकर्ता बताया गया है प्रकृति में भी सर्जन की शक्ति ईश्वर के द्वारा प्रदान की जाती है ।

तदुक्तम हि- **''मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।''** इति-

किञ्च- **''अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वञ्च संस्थितम् ।**
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्त्ता सन्निधिमात्रतः ॥

जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है कि मेरी अध्यक्षता में ही मेरी प्रकृति चर अचर की सृष्टि करती है । इस कथन के द्वारा भगवान् ने स्वयं अपनी अध्यक्षता का प्रतिपादन किया है और भी दो स्थितियों से भगवान् में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों सिद्ध हो जाते हैं वह इच्छारहित होने के कारण अकर्ता है और सानिध्य मात्र से प्रकृति के प्रेरक होने से ईश्वर में कर्तृत्व है इस प्रकार ईश्वर में अकर्तृत्व और कर्तृत्व दोनों सिद्ध हो जाते हैं ।

इसी प्रकार मोक्ष के विषय में भी सांख्य एवं वेदान्त में समानता सिद्ध होती है । सांख्य में भी विवेक के उदय हो जाने पर जब पुरुष अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वरूप को पहचान लेता है । और अपने स्वरूप में स्थित हो जाताहै तभी वह मुक्त हो जाता है । यही वेदान्त का भी सिद्धान्त है । मुक्ति के स्वरूप में स्वल्पमात्र ही भेद है । सांख्य प्रतिपादित मुक्ति नीरस है और वेदान्त प्रतिपादित मुक्ति सरस एवं परमानन्द दायिनी है । मात्र दोनों में इतना ही भेद है ।

बौद्ध धर्म में भी ईश्वरवाद

यद्यपि बौद्ध धर्म में स्पष्टतया ईश्वर के अस्तित्व की स्वीकारोक्ति नहीं है, किन्तु स्पष्ट निषेध भी नहीं है । क्योंकि सर्वमान्य एवं विश्व व्याप्त प्रत्यक्षादि वेद प्रमाण से सिद्ध को सिद्ध करने का कैसा प्रयास ? ये दोनों ही निरर्थक है । ईश्वर के विषय में तो समर्थन या असमर्थन के प्रयास में पिष्टपेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इसलिये इस विषय पर दृष्टिपात नहीं किया ।

बौद्ध धर्म दर्शन में दो सम्प्रदाय प्रचलित है । उनमें से एक है महायान । यह सम्प्रदाय तो पूर्णतया ईश्वरवादी ही है, अत: इसके विवेचन की आवश्यकता ही नहीं है । हीनयान का दूसरा सम्प्रदाय है (भूततथाता) सत्य स्वरूप से उत्पन्न होने के कारण सभी भूत या प्राणी भी सत्य स्वरूप ही है । यही भूततथाता है । क्योंकि अपने द्वारा उत्पन्न समस्त पदार्थ समूह में अपनी विद्यमानता होने पर भी और उससे भिन्न रहते हुये भी अपने-अपने स्वरूप में स्थित होने से तथा सर्वदा एक रस होने से स्वयं भासित होने पर जो सनातनता है वही तथाता कहलाती है ।

द्वितीय सम्प्रदाय 'हीनयान' है इस सम्प्रदाय में सम्पूर्ण संसार ईश्वर गर्भित है । सम्पूर्ण प्रपञ्च समूह में ईश्वर की ही सत्ता है । जिस किसी प्रकार से जगत में ईश्वर का सम्बन्ध विद्यमान है सम्बन्ध कोई भी हो सकता है । चाहे वह जन्यजनक भाव हो । उत्पाद्य उत्पादक भाव हो या आधार आधेय भाव हो । स्थिति स्थापक भाव या नियम्य नियामक भाव हो इससे भी यही सिद्ध होता है कि ईश्वरके बिना जगत् की सृष्टि का क्रम नहीं हो सकता । अत: बौद्ध धर्म में भी ईश्वरवाद पूर्णरूप से विद्यमान है ।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त भी हमारे सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही है जैसे बौद्ध दर्शन के 'द्वयतानुपरस्सनसुत्त' के चालीस वे श्लोक का अभिप्राय हमारी गीता के 'या निशा सर्वभूतानाम्'' श्लोक से सम्बन्धित है 'महावग्ग' विषय में जो आशय वर्णित है वही हमारे गीता में स्पष्ट किया गया है- आदित्यानामहं विष्णु: । गीता में जो तत्त्व मोक्ष शब्द से निर्दिष्ट है वही बौद्ध ग्रन्थों में 'निर्वाण' शब्द से प्रतिपादित है गीता में स्थित प्रज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ, भक्त या योगी के जो लक्षण वर्णित है, वही लक्षण निर्वाण पद के अधिकारी भिक्षुक के भी

बताये गये हैं । गीता में आत्मा के अस्तित्व का तथा दुख के बन्धन से मुक्ति का उपाय ब्रह्मज्ञान वर्णित है । प्रकारान्तर से बौद्धों ने भी ऐसा संकेत किया है । जैसे "आत्मा या ब्रह्म का यथार्थ रूप कुछ भी नहीं है-" यह कहकर दुख के कारण भूततृष्णा या कामना के परित्याग पूर्वक वैराग्य युक्त संन्यास से ही सुख प्राप्त होगा । ऐसा वर्णन बौद्ध गन्थों में है । किन्तु बौद्ध भी सुख के स्वरूप के चिन्तन हेतु हमारे द्वारा प्रतिपादित आत्मसुख के ब्रह्मस्वरूप के या नित्यानन्दस्वरूप की शरण ग्रहण करते हैं । और उसी प्रकार पुनर्जन्म और कर्म को समान रूप से स्वीकार करते हैं । कर्म के विषय में उनके द्वारा 'सुत्तानिवासेहस" ६१वें पद में लिखा है कि-

"कम्मना, वत्तति लोको कम्मना वत्तति प्रजा ।
कम्मनिबन्धना सत्ता रथास्खाऽणीव जायते ॥

संस्कृतञ्च-
कर्मणा वर्तते लोकः कर्मणा वर्तते प्रजाः ।
कर्मनिबन्धना सत्ता रथाऽक्षाणीव जायते ॥

कर्म के द्वारा ही लोक वर्त रहा है । कर्म के द्वारा ही प्रजा विद्यमान है तथा जन्म कर्म के ही आश्रित है । इस मान्यता को भी महत्त्व देते हैं । जैसे रथ की गति चक्र के धुरे पर आश्रित होती है । वैसे ही सभी प्राणियों के जन्मादि कर्मों के आश्रित हुआ करते हैं ।

बौद्धों के इस कथन का अभिप्राय यह है कि 'ईश्वर का यथार्थ स्वरूप कुछ भी नहीं है इसका अर्थ यह है कि ईश्वर का कोई एकरूप निर्धारित नहीं है । नानारूप होने के कारण वह ईश्वर ऐसा ही है, इतना ही है, इसका निश्चय नहीं हो सकता । अपने से पृथक् होकर भी वह निर्गुण निराकर रूप में स्थित है । और अन्तर्यामी स्वरूप से सर्वत्र समस्त प्राणियों में प्रविष्ट है । जिसका यथार्थ वर्णन हो ही नहीं सकता यही 'नेति नेति' का अभिप्राय है यह निषेधार्थक नहीं है । यदि ऐसा न होता तो बौद्ध महायान सम्प्रदाय में वर्णित भक्ति तत्त्वों की गीता में निर्दिष्ट भक्ति तत्त्वों में समानता कैसे हो सकती थी । अतः बौद्ध भी निषेध द्वारा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर रहे हैं । ईश्वर के अस्वीकार करने पर 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्" । अतः ईश्वर को न मानने वालों की स्थिति भी असद् हुआ करती है यदि वो ब्रह्म को असद् कहते हैं । अर्थात् उनका भी कुछ अस्तित्व नहीं हुआ करता ।

जो 'अहिंसा परम धर्म' का सिद्धान्त है वह भी नवीन नहीं है । क्योंकि सनातन धर्म में तो पग-पग पर 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा न करो'' । इसका डिण्डिम घोष सर्वत्र सुनाई पड़ता है न केवल बौद्ध मत में ही ।

यदि यज्ञ यागादि में जो पशु वध कही-कहीं देखने को मिलता है वह कतिपय जिह्वा लोलुप देश और स्थान की परम्पराओं को महत्त्व देते हुए स्वयं हिंसक होने के कारण यज्ञ में पशुओं की हिंसा का अधिक प्रचार कर रहे हैं अज्ञानतावश 'आलम्भन' शब्द का हिंसा अर्थ मानकर विशेष रूप से हिंसा में प्रवृत्त हो जाने पर, उसका निषेध करने के लिये ही 'आलम्भन' शब्द का अर्थ 'स्पर्श' है वध नहीं यह स्पष्ट किया गया है । यज्ञ में मात्र-पशु के स्पर्श से ही यदि कार्य सिद्ध हो जाता है तो फिर व्यर्थ में पशुओं की हिंसा क्यों किया जाय और उनके वध जन्य पाप का भागीदार क्यों बना जाय । ऐसा कहकर यज्ञादि का विरोध किया गया । यह समुचित एवं सामयिक ही था । इस प्रकार के व्यवहार एवं प्रचार को देखकर बौद्धों को नास्तिक एवं अनीश्वरवादी मानकर लोग उनकी निन्दा करते हैं, किन्तु वे वस्तुतः अनीश्वर वादी नहीं है । वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से उनके सिद्धान्त पर मनन करने से प्रकारान्तर से यही सिद्ध होता है कि बौद्ध भी ईश्वरवादी है । जैसे उनका सिद्धान्त है-'सभी प्रपञ्चों का उपशमन हो जाना ही निर्वाण की प्राप्ति है ।'' हमारे मत में भी सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इत्यादि भगवान की आज्ञा है । भगवत् प्राप्ति ही मोक्ष है और वह सभी धर्मों का परित्याग करने पर ही सम्भव है । वही निर्वाण नाम से कही जाती है । तब किस बात का भेद है और किस बात का विवाद ?

जैन धर्म में ईश्वरवाद है

जैन मत में यह कहा गया है कि जैसे किसी मादक द्रव्य का सेवन करने वाला ही उसकी मादकता से प्रभावित होता है अन्य नहीं । इसी प्रकार कर्म करने वाले पर ही उसके द्वारा किये गये सुकृत एवं दुष्कृत कर्मों का फल प्रभाव डालता है । अतः मनुष्य अपने किये हुए कर्मों का फल भोक्ता स्वयं बन जाता है । यहाँ पर किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है । यह

संसार तो अनादि है अत: इसका निर्माता एवं पालक कोई होना ही चाहिऐ इसकी भी आवश्यकता नहीं है ।

यह कथन उनकी बाल बुद्धि का ही परिचायक है, क्योंकि जो भी वस्तु इस विश्व में है, वह सब कार्य ही है और कार्य की उत्पत्ति बिना कारण के नहीं होती है । वैशेषिकादि दर्शनों में अनुमान के द्वारा यह सिद्ध ही है, पृथ्वी में अंकुरादि का उत्पन्न होना कर्तृजन्य है, कार्य होने से घड़े के समान । जो जो कार्य हैं वे सभी कर्तृजन्य है । इसलिए इस महान जगत का कर्ता कोई शरीर धारी सामान्य पुरुष तो हो ही नहीं सकता क्योंकि शरीरधारी भी संसार के अन्तर्गत ही आते हैं । अत: उनके भी उत्पन्न करने वाले की कल्पना करनी होगी । पञ्चमहाभूतों के- अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जिसको कर्त्ता माना जाय । इस विचित्रतम परम अद्‌भुत कार्यरूप संसार का कोई अद्‌भुत एवं विचित्रतम ही कर्त्ता स्वीकार करना होगा । ऐसा विरूद्ध धर्माश्रय कोई अद्‌भुत ही होगा । 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' जो बिना हाथ और पैर के भी वेगवान् हो, बिना आँख के देख सकता हो, और बिना कान के सुन सकता है । जिसके सभी ओर हाथ और पैर हों सभी आँख और सिर हों जो सभी इन्द्रियों से युक्त है और सभी इन्द्रियों से रहित जो महान् से भी महान् हो और लघु से भी लघुतम हो । क्योंकि कर्म भी तो जड़ ही है । उनमें जब चेतनता ही नहीं है तो फल देने की शक्ति कैसे हो सकती है । इस संसार में जड़ पदार्थ कुछ भी करने में समर्थ नहीं है । जड़ भी चेतन पर आधारित होकर ही कार्य करने में सक्षम हो सकता है । पत्थर स्वयं चल नहीं सकता और न ही गृह आदि का निर्माण कर सकता । अत: उसका भी कोई प्रवर्तक होना चाहिए इस प्रकार सभी का कर्ता ईश्वर ही हो सकता है । एवं जड़ कर्मों का नियन्ता एवं कर्मानुसार फलों का प्रदाता ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता अत: जैन मत में भी ईश्वर सामान्य रूप से है ही । मन्दिरादि की स्थापना मूर्तिपूजा और उपासनादि के द्वारा रूपान्तर से माना जाता है ।

चार्वाक एवं विकासवाद आदि मत तो ऐसे हैं जैसे किसी सुशील एवं धार्मिक माता-पिता के दिगम्बरत्व क़ा उपहास स्वयं उसकी सन्तानें कर रही हो । ये लोग स्वयं को धैर्यशाली पण्डित मानकर अन्धकार से घिरे हुए होने पर भी अपने अनुयायियों को भी अन्धकार में प्रवेश कराते हुये वाली

सूक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं स्वयं अविद्या में विद्यमान होकर अपने को धीर और पण्डित मान रहे हैं ।

ये प्राय: प्रत्यक्षवादी लोग है । ये लोग पुनर्जन्म, परलोक, स्वर्ग, नरक तथा ईश्वर आदि को नहीं मानते है । प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी भी वस्तु पर विश्वास नहीं करते । किन्तु प्रश्न यह है कि यदि ये लोग प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य शब्दादि प्रमाण नहीं स्वीकार करते, तो फिर मेरे पिता यही हैं मैं इन्हीं का पुत्र हूँ । इसकी सिद्धि कैसे कर सकेंगे । पितृज्ञान तो चाक्षुष ज्ञान का विषय ही नहीं है । इस विषय में अपने जनक-जननी के ज्ञान के लिए प्रामाणिक पुरुषों के वाक्यों का अनुसरण इन्हें करना ही पड़ेगा ।

आप्तवाक्य शब्द स्वरूप होते हैं । अत: शब्द प्रमाण को स्वीकार करके ही ये अपने पिता को पिता सिद्ध कर सकते हैं । ठीक इसी प्रकार सभी के लिए प्रामाणिक आर्षभूत वेदों के वाक्यों से सिद्ध है कि ईश्वर ही चर एवं अचर सभी का जनक है । यह तथ्य उन्हें भी मानना होगा । नहीं तो प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में वो अपने माता-पिता को भी अपना माता-पिता सिद्ध नहीं कर सकेंगे । ऐसे लोगों को भगवान् अपना दर्शन नहीं देते । 'नाविरतो दुश्चरितान....अर्थात् जो कुकृत्यों से विरत नहीं हुआ, जो अशान्त है, समाहित नहीं है, वह भगवद्दर्शन से विमुख ही रहता है ।

भगवान का दर्शन न कर पाने के कारण ही वे ईश्वर को न ही मानते । जब तक वे श्रद्धावान्, सदाचारवान्, विशुद्ध हृदय सदैव ध्यानरत, अनन्य भाव से शरणापन्न तथा सद्भावयुक्त नहीं होते तब तक भगवद्दर्शन नहीं कर सकते । क्योंकि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है ।

''न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा ।''
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु तं पश्यते ध्यायमानः ।''

किञ्च **''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन**
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणते तनुं स्वाम् ।''

उस परमात्मा को चक्षुओं से देखा नहीं जा सकता और न वाणी से ही प्राप्त किया जा सकता है । न तप से अथवा कर्म से ही प्राप्त किया जा सकता है निरन्तर उसका चिन्तन करने पर अन्त:करण के विशुद्ध होने पर ज्ञान की महिमा से उसका दर्शन किया जा सकता है । इस आत्मतत्व का

ज्ञान प्रवचन से श्रेष्ठ बुद्धि से अथवा अत्यधिक वेदादि के अध्ययन से नहीं प्राप्त किया जा सकता । परमात्मा जिसका बरण स्वयं कर लेता है वही सौभाग्यशाली पुरुष ही आत्म तत्त्व का वेत्ता बन सकता है । इत्यादि वेद वचनों से वह परमात्मा जिसका वरण करता है उसी के द्वारा वो प्राप्त किया जाता है दूसरों के द्वारा नहीं ।

जो परमाणु वादी हैं-उनके मत में परमाणु ही सृष्टि के कर्त्ता है, ईश्वर नहीं, किन्तु वे भी बुद्धिहीन एवं भ्रान्त मालूम पड़ते हैं । क्योंकि वे नहीं जानते कि परमाणु भी जड़ है जब उनमें चेतनता ही नहीं है तो कर्त्तृत्व का सामर्थ्य कैसे हो सकता है । यदि वे परमाणु स्वतः ही संघटन एवं विघटनशील है तो फिर सर्वदा संघटित या विघटित क्यों नहीं होते । मानव, पशु, पक्षी, जड़ चेतना तथा विभिन्न जाति, नाम, रूप, गुण एवं विभिन्न क्रिया कलापों से युक्त सृष्टि क्यों है ? एक प्रकार की सृष्टि क्यों नहीं है ? परमाणु जड़ एवं मूक हैं, तो फिर उनसे अनेक नाम रूपवाली सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई । जल वाले परमाणुओं से वायु क्यों नहीं उत्पन्न हो जाती है ? वायु वाले परमाणु से पृथ्वी की उत्पत्ति एवं पृथ्वी वाले परमाणुओं से आकाश की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? उनका नियामक आखिर कौन है ? जिसके द्वारा पार्थिव परमाणुओं से पृथ्वी एवं जलीय परमाणुओं से जल ही उत्पन्न होते हैं । अतः जो कोई भी तत्त्व उनका नियामक है वही हमारा ईश्वर है फिर प्रश्न उठता है कि परमाणुओं की उत्पत्ति कहाँ से हुई ? और उनमें जलीय तैजस, वायवीय एवं पार्थिवादि भेद कैसे उत्पन्न हुये ? वह विभेदक कौन है । इस रूप, घनरूप, तरल रूप और विरल रूप में परिणत किया ? आशय यह है कि जो प्रवर्तक हमारा ईश्वर है । परमाणुओं में इस प्रकार की शक्ति उत्पन्न करने वाला मूलाधार वह परमेश्वर ही है ।

इस प्रकार के ईश्वर का ज्ञान भी उसी की कृपा का फल है और भगवत् प्राप्ति भी उसी का अनुग्रह है । जिसको ये वरण करते हैं उसी के द्वारा प्राप्य हैं-भगवान् की प्राप्ति के तीन ही साधन है- तप, वेद वचनों का अनुसरण और भगवान की करुणा कृपा । अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

अतः द्वितीयं वेदवचनम्-हि-"**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।**

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते ॥"

यह परमात्मा पूर्ण है उसका बनाया हुआ संसार भी पूर्ण है । पूर्ण से पूर्ण निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है ।

इसके बावजूद भी यदि उक्त लोगों के मन में भगवान् का निवास नहीं हो पाता, तो इस सन्दर्भ में श्रीमद् उदयनाचार्य की ही सूक्ति स्मृति पथ पर आ रही है कि-

''इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते ।
येषां नाऽऽस्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ॥

हे प्रभु ! हम लोगों के द्वारा बारम्बार श्रुतियों के वचन रूपी जलस्त्रोतों से प्रक्षालित किये जाने पर भी जिनके हृदय में भगवान् अपना निवास नहीं बनाते, वे मन्द भाग्य है बज्रसदृश कठोर हृदय हैं ।

ऐसा कहकर श्री रामानन्द के मुखारविन्द से निस्सृत होनें वाली पीयूष रूपी वचन निर्झरिणी के विश्राम ले लेने पर अचानक **वहीं** सभा मण्डप में सभी ओर से जय जय की हर्ष ध्वनि गूँज उठी । सभा में समुपस्थित समस्त प्रशस्त बंधुजनों की स्नेहिल एवं निर्निमेष दृष्टि मन्द हास्य से युक्त श्री रामानन्द के प्रसन्न मुख रूपी चन्द्र मण्डल में पड़कर आनन्दित हुई ।

कुछ लोग अत्यधिक आनन्दमग्न होकर उनके ऊपर सुमन वृष्टि करने लगे । उस समय आये हुए सायंकालीन सन्ध्यावन्दन के समय को दृष्टि में रखते हुये सभाध्यक्ष श्रीमदाचार्यवर्य राघवानन्द स्वामी ने घोषणा की- भगवान् मरीचि माली आप लोगों के शास्त्रीय वचनामृत का सम्पूर्ण दिवस पानकर संतृप्त होकर अब विश्राम के लिये अस्ताचल का आश्रय ले रहे हैं अतः अब सभाकार्य सम्पन्न हुआ । आप सभी सायं सन्ध्योपासनादि कार्य सम्पन्न करने के लिये अपने-अपने निवास स्थान को प्रस्थान करे । इस प्रकार सभा विसर्जन प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त कर सभी लोग सानन्द श्रीरामानन्द की प्रतिभा-चातुर्य की प्रशंसा करते हुये अपने-अपने निवास स्थान की ओर प्रस्थान किये ।

सोलहवाँ परिच्छेद

श्रीरामानन्द जी की गत दिवसीय शास्त्रार्थ प्रक्रिया की प्रशंसा काशी के कोने-कोने में फैल गयी । आज शास्त्रार्थ का यह द्वितीय दिवस था । सभामण्डप सुविस्तृत, सुसज्जित एवं पुष्पमालाओं से अलंकृत था । आज दर्शकों, श्रोताओं तथा वक्ताओं की संख्या कल से दुगुनी हो गई थी । अत्यन्त दूरस्थ स्थानों से एकत्रित हुये विद्वान् एवं प्राकृत जन जो अपने विद्यार्थियों के साथ आये हुये थे, उनसे सम्पूर्ण वह सभामण्डप उन कोलाहल से व्याप्त होने के कारण एक नवीन नगर की भाँति सुशोभित हो रहा था । आये हुए मानवों की भीड़ से सभी जगह भर गयी थी जिसके कारण उस सभा भवन में तिल रखने की भी जगह शेष नहीं थी ।

उसी समय सभी की दर्शनपिपासा से आकुल दृष्टि रूपी चकोरी अभी-अभी आये हुये श्री रामानन्द के मुखचन्द्र ज्योत्स्ना पर आकर्षित होकर ठहर गयी । श्रीरामानन्द भी अपनी मन्द मधुर सरस एवं स्नेह रूपी जल से भरी हुई मुस्कान से विनय तथा श्रद्धा से परिपूर्ण सुधामयी दृष्टि का सभा की ओर प्रक्षेपण किया ।

पहले से ही सुनिश्चित किये गये सभाध्यक्ष श्रीराघवानन्दाचार्य ने अपने स्थान को अलंकृत करते ही सभा प्रारम्भ होने के पहले मंगलाचरण के लिये अपने विद्यालय के छात्रों को प्रेरित किया । मंगलाचरण के पश्चात् सभाकार्य आरम्भ हो गया ।

इसके बाद पूर्व पक्ष से कोई विपक्षी विद्वान् जिसका नाम सर्वदर्शन था- उसने सभा को सम्बोधित करना प्रारम्भ किया । श्रद्धेय आचार्यवर्य्य ! विद्वद्‌गोष्ठी में समागत वरिष्ठ विद्वज्जन ! एवं श्रोतागण ! पिछले दिन अर्थात् कल श्रीरामानन्द ब्रह्मचारी ने ईश्वर सिद्धि के विषय में वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण एवं स्मृतियों के प्रमाणों के द्वारा अपने पक्ष को विद्वत्तापूर्ण ढंग से सबके समक्ष स्थापित किया फिर भी कुछ स्थलों में सन्देह का निराकरण नहीं हो पाया । जैसे कि सांख्य में स्पष्टरूपेण निर्देश आता है कि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता या वहाँ ईश्वरकी असिद्धि

दिखाई गई है । यदि सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त ईश्वर की असिद्धि घोषित करते हैं तो फिर ईश्वर की सिद्धि कैसे हो सकती है ।यदि हठपूर्वक ईश्वर की सिद्धि की जाती है तो 'ईश्वराऽसिद्धेः' पद का दूसरा और क्या अभिप्राय हो सकता है ? श्रीरामानन्द जी अचानक सिंह गर्जना करते हुये बोले भगवन् ! मात्र किसी शब्द के उच्चारण को सुनकर ही कोई निर्णय नहीं ले लेना चाहिये । निर्णय से पहले उस प्रसंग में पूर्वापर सम्बन्ध पर भी दृष्टि डालनी चाहिये । वह यह कि कोई वाक्य किस प्रसंग में किस प्रकरण में और किस परिस्थिति में कैसे प्रयुक्त हुआ है । बिना कुछ सोचे विचारे विवेक का आश्रय लिये बिना आपने कह दिया कि सांख्य में ईश्वर की असिद्धि वर्णित है ।

पण्डित वर्य ! क्षण भर विचार करके अपनी विवेकपूर्ण दृष्टि उस पर डालें ! भगवन् ! सर्वसाधारण के लिये तो इस वाक्य का अर्थ यही है कि सांख्य में ईश्वर की सिद्धि नहीं होती । परन्तु किस भावना को स्वीकार कर यह पद प्रयुक्त हुआ है, इस पर भी विचार करें । ईश्वर लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा इत्यादि सूक्तियों से सिद्ध है कि भगवान् लौकिक इन्द्रियों के ज्ञान का विषय नहीं है । क्योंकि भगवान् सूक्ष्माति-सूक्ष्म है । ईश्वर का स्वरूप अलौकिक है अतः वह लौकिक प्रमाणों से परे हैं । अतः सर्वत्र व्यापक होने पर भी सर्वरूप होने पर भी सर्वमय तथा सर्वकर्त्ता होने पर भी उसका प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है अतः लिखा गया 'ईश्वराऽसिद्धेः' ।

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर न मुक्त है और न बद्ध है । मुक्त कहने पर उसमें अभिमान का अभाव हो जायेगा और वह फिर सृष्टि का कर्त्ता न माना जा सकेगा । यदि बद्ध कह दिया जाय तो उसमें सृष्टि रचना की शक्ति का ही अभाव सिद्ध हो जायेगा । अतः मुक्त एवं बद्ध के अभाव को लेकर ही लौकिक प्रत्यक्ष सम्भव न हो पाने के कारण लिखा गया है 'ईश्वराऽसिद्धेः' । न कि अलौकिक प्रत्यक्ष का या भगवान् की कृपा-जन्य प्रत्यक्ष का निषेध किया गया है अन्यथा मुक्त आत्मा की प्रशंसा और उपासना द्वारा सिद्ध ऐसा नहीं कहते अपितु इस प्रकार कहकर तो ईश्वरासिद्धि विषयक भ्रम को भी निरस्त कर दिया ।

तदनन्तर श्रीसर्वदर्शन ने ब्रह्म के साकार एवं निराकार के सम्बन्ध में शंका उपस्थित की । श्रीरामानन्द ने शीघ्र ही उत्तर देते हुये कहा कि ईश्वर दोनों प्रकार का है-साकार भी है निराकार भी है ।

श्रीसर्वदर्शन- एक ही समय में प्रकाश एवं अंधकार की उपस्थिति कैसे सम्भव है ?

श्रीरामानन्द- सभी विरोधी धर्मों का एक साथ जो आश्रय हो वही ब्रह्म है । विष और अमृत एक साथ ब्रह्म में विद्यमान है यही तो उसका अलौकिकत्व है । सब ठीक है कोई लौकिक पदार्थ परमेश्वर नहीं हो सकता है । जहाँ विरोधी धर्मों का आश्रयत्व बाधित हो । ऋग्वेद में कहा गया है-जिसके आश्रय में अमृत एवं मृत्यु है ।

श्रीसर्वदर्शन- यदि वह ईश्वर साकार है तो वह प्रत्यक्ष दिखाई क्यों नहीं पड़ता ? और यदि वह निराकार है तो सृष्टिकर्त्ता कैसे हो सकता है ?

श्रीरामानन्द- भगवन् ! काष्ठ में अग्नि है या नहीं ? यदि है तो दिखाई क्यों नहीं पड़ती, अथवा उस काष्ठ को क्यों नहीं जला देती ? और यदि आग काष्ठ में नहीं है तो फिर अरणी मन्थन के समय घर्षण से कैसे उत्पन्न हो जाती है ? ठीक ऐसा ही ईश्वर है । जैसे घर्षण के पहले काष्ठ अग्नि विहीन है । घर्षण प्रक्रिया न होने पर काष्ठ में अग्नि की प्रतीति नहीं होती है । किन्तु घर्षण के बाद अग्नि उत्पन्न हो जाने से वही काष्ठ अग्नि युक्त दिखाई देता है । उसी प्रकार साकार ब्रह्म का दर्शन तप, ब्रह्मज्ञान भगवदनुग्रह एवं भक्त की उत्कट अभिलाषा के अभाव में सम्भव नहीं है । इसीलिये उस ब्रह्म को निर्गुण कह दिया जाता है । जब भक्त भगवदनुग्रह से युक्त होकर उत्कट अभिलाषा के द्वारा अपने अभीष्ट विग्रह श्रीराम या श्रीकृष्ण के रूप में उनको प्रकट करना चाहता है तभी उस साकार ब्रह्म के दर्शन होते हैं । इसलिये परमात्मा सगुण और निर्गुण दोनों ही है ।

श्रीसवदर्शन- तो प्रश्न यह है कि निराकार होकर वह सृष्टि की रचना कैसे करता है ?

श्रीरामानन्द– भगवन् ! जीवात्मा शरीरधारी है या अशरीरी है ? यह आप ही बतलाइये ।

श्रीसर्वदर्शन– जीवात्मा शरीरधारी नहीं है ऐसा तो सभी मानते हैं । जो शरीरी है उसका जन्म भी है, और मृत्यु भी ।

श्रीरामानन्द– यदि जीवात्मा अशरीरी है तो वह शरीर में स्थित रहते हुये सभी शरीर के अंगों का संचालन और नियन्त्रण करता है या नहीं ?

श्रीसर्वदर्शन– निश्चित रूप से करता है । अशरीरी होकर भी वह अंगों का संचालन करता है ।

श्रीरामानन्द– तो फिर निराकार परमात्मा में क्या सन्देह है । वह सर्वज्ञ है । सब कुछ करने में समर्थ है । सम्भव को असम्भव तथा असम्भव को भी सम्भव बना देता है । ऐसा सर्व समर्थ प्रभु क्या सृष्टि करने में समर्थ नहीं हो सकता ?

श्रीसर्वदर्शन– किन्तु आपका ईश्वर तो आप्तकाम है उसकी कोई इच्छा ही नहीं है । तो फिर व्यर्थ में ही वह सृष्टि प्रपञ्च के विस्तार में या संरचना में क्यों पड़ता है ?

श्रीरामानन्द– भगवन् ! वह परमात्मा आप्तकाम ही नहीं है वह सर्वकाम भी है सब कार्यों को करने वाला भी है । सब प्रकार की कामनाओं का कर्त्ता भी है । यद्यपि इसमें विरोधाभास प्रतीत होता है किन्तु विरुद्ध धर्माश्रयत्वं ईश्वरत्वम् की यही तो विशेषता है कि वह पूर्णकाम होकर भी सर्वकाम है । 'अकामोऽपि सर्वकाम' । कोई कामना न होने पर भी वह सब कुछ करने वाला है । उस परमात्मा का कोई कारण (उत्पादक) नहीं है और न ही कोई कार्य या साधन । उसके समान या उससे अधिक भी कोई नहीं दिखाई पड़ता । इसकी ज्ञान-बल-क्रियात्मिका पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है । (छा. ३) इसी प्रकार जिसके द्वारा सदैव सब कुछ आवृत्त है, जो ज्ञाता है, कालज्ञ है, गुणी है । सब कुछ जानने वाला है । उसी के शासन में पृथ्वी, जल, तेज समस्त चिन्तित कर्म होते हैं ।

वह ईश्वर विश्व का कर्त्ता है, विश्व का वेत्ता है वह काल का भी काल है आत्मविद् है, सर्वविद् है । वह प्रधान क्षेत्रज्ञ का भी स्वामी है गुणों का स्वामी है । संसार के मोक्ष स्थिति एवं बन्धन का वहीं कारण भी है । समस्त कामनाओं से रहित होता हुआ भी वह परमेश्वर यदि सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होता है तो इसका एकमात्र कारण यही है-'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' जैसे बच्चे स्वयं ही अपने मनोरंजन के लिये मिट्टी के खिलौने बनाकर खेलते हैं वैसे ही भगवान् की भी लीला है । इसी प्रकार भगवान स्वेच्छापूर्वक अवतार धारण करने के अवसर पर भी करुणा के सागर प्रभु संसार के प्रवाह में पड़े हुये कर्म-बन्धन से बंधे हुये अच्छे एवं बुरे कर्मों के फलों के भोग के अनुसार सुख-दुःख के भोग बन्धन में पड़े हुये लोगों के उद्धार के लिये ही अवतार ग्रहण करते हैं ।

श्रीसर्वदर्शन- यदि भगवान् की अहैतु की कृपा ही सृष्टि कार्य का हेतु है तो फिर ईश्वर में विषमता एवं निर्दयता का दोष आ जायेगा । क्योंकि यहाँ कुछ जीव सुखी हैं कुछ दुखी हैं । कोई धनी है कोई निर्धन हैं, किसी के पास एक कौड़ी भी नहीं है । कुछ सशक्त हैं कुछ लोग पुरी तरह से अशक्त है । इन सब विभिन्नताओं के कारण ईश्वर को वैषम्य दोष से युक्त कहना पड़ेगा । तथा सुख-दुःख के भोग के कारण उन्हें करुणा कृपण तथा दयालुता से रहित क्यों न कहा जाय ?

श्रीरामानन्द- इस प्रकार की विषमता के लिए भगवान् दोषी नहीं है । इस सम्बन्ध में जीवों के द्वारा किये गये पापों एवं पुण्यों से उत्पन्न जन्म जन्मान्तर के शेष भोग ही उनके सुखों और दुखों के कारण है । अपने शुभ एवं अशुभ कर्मों के अनुसार जीवों की विभिन्न योनियों में उत्पत्ति होती है । पुण्य कर्मों से भ्रम एवं पापकर्मों से अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं । ऐसा वेदमत है । सृष्टि कर्मानुसारिणी है ऐसा जानकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । अथवा ऐसा भी नहीं मानना चाहिये कि कर्म करने वाले तो जीव हैं अत: वही अपनी उत्पत्ति के कारण भी हैं । जीवों की उत्पत्ति तो भगवान् के आधीन है । कर्म के प्रभाव से ही जीवों की उत्पत्ति होती है । किन्तु उत्पत्ति के साथ ही उसके पूर्व

जन्मों के अर्जित कर्मों के संस्कार भी प्रलय काल के समय मे अपने-अपने कर्मों के अनुसार शुभ एवं अशुभ फल देने वाले होते हैं यदि उनके शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल भोग शेष रहता है तो वह भोग धरोहर के रूप में भगवान् के कोष मे जमा रहता है । तथा बाद में जीवों को ईश्वर उन कर्म फलो का भोग प्रदान करता है । अत: अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख एवं दुःख भोगने वाले जीव ईश्वर पर विषमता या क्रूरता का दोष नहीं लगा सकते हैं । जैसे कभी किसी कारण वश चन्द्रकान्तमणि की उपस्थिति में यदि अग्नि में दाहकता शक्ति नहीं समझ में आती, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अग्नि दाहकता की शक्ति से शून्य है । यह तो चन्द्रकान्तमणि की शीतलता थी जिसके कारण अग्नि की दाहकता कुछ समय के लिये प्रतीत नहीं हुई इसी प्रकार जीवों का कर्तृत्व ईश्वर में नही है ऐसा नहीं कह सकते ।

भाष्यकार ने भी कहा है- ईश्वर को तो बादलों की तरह समझना चाहिये । जैसे बादल जल बरसा कर अन्न और औषधियों को केवल पुष्ट ही करता है तथा उनमें रस वृद्धि करता है । उनमे विविधजातीयता उत्पन्न नहीं कर सकता । अन्न तथा औषधियो को उत्पन्न करने में वृष्टि ही हेतु है । ये अपने बीज के अनुरूप ही अपने-अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं । यह कार्य बादल का नहीं है । उसी प्रकार जीवों को उत्पन्न करने वाला तो ईश्वर है किन्तु जीव उत्पन्न होने के बाद कर्म का फल तो वे अपने द्वारा किये हुये सुकृत एवं दुष्कृत के अनुसार ही भोगते हैं । यह सब बिल्कुल स्पष्ट है । जीव स्वयं अपने आपको उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है । ऐसी प्रक्रिया संसार में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती क्योंकि वे अज्ञ हैं, तथा अल्पज्ञ हैं । सीमित शक्ति वाले हैं इसलिये वे सदैव देश, काल, कर्म, स्वभाव एवं गुण आदि के फलोपभोग में भी स्वतन्त्र नहीं है । भगवत् तन्त्र के आधीन हैं । यदि वे स्वतन्त्र भी हों तो कोई स्वेच्छा से अपनी बुद्धि और बल के रहते हुये

दुख का अनुभव नहीं करना चाहेगा । और न ही वह ऐसे कर्म ही करने में प्रवृत्त होगा जिससे दुःख हो । जो भी वह करता है-विवशता में करता है और दुख का अनुभव भी करता है । अतः वह स्वतन्त्र नहीं है । पाणिनि सूत्रानुसार जो कर्त्ता होता है वही स्वतन्त्र होता है । 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' यह सूत्र है । अतः जीवात्मा न तो सृष्टिकर्त्ता है, न नियंत्ता है और न ही स्वतन्त्र रूप से फल भोगता है । अतः सम्पूर्ण विश्व का कर्त्ता, नियन्ता और सत् तथा असत् के फलों का भोग प्रदाता सर्व शक्तिमान् भगवान् ही है ।

श्रीसर्वदर्शन- भगवन् ! ईश्वर तो चेतन है और सृष्टि जड़ है तो फिर चेतन से अचेतन की सृष्टि कैसे सम्भव है ?

श्रीरामानन्द- दुःख है कि अनुभव होते हुये भी तुम व्यर्थ की बात करते हो । चेतन शरीर से जैसे नाखून रोमादि अचेतनों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही सर्वशक्तिमान् भगवान् से यदि सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि होती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

श्रीसर्वदर्शन- यदि एक ही भगवान् ध्येय और ज्ञेय तथा दर्शनीय है तो फिर वह अपने को प्रकाशित क्यों नहीं करता । सबके समक्ष प्रत्यक्ष रूप से दर्शनीय क्यों नहीं बनता ?

श्रीरामानन्द- भगवन् ! वह भगवान् कब और किसको सत्य के प्रकाश को प्राप्त करने से रोकता है । वह तो सर्वत्र बारम्बार यही घोषणा करता है-कोई पाप न करे दुष्कृत से बचे दुर्वचनों का प्रयोग न करें । इन्द्रियों का संयमन करके । आत्मज्ञान श्रोतव्य है मन्तव्य है और आचरण में उतारने योग्य है 'अपने मन को मेरे मन से मिला दो, मेरे भक्त बनो मेरा भजन करो और मुझे प्रणाम करो'' । ''सभी धर्मों का परित्याग कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो'' । इत्यादि वचन वेदों पुराणों एवं स्मृतियों में मानव को सन्मार्ग में प्रेरित करने हेतु लिखे गये हैं । कल्याण चाहने वाले को भगवान् की उपासना करनी चाहिये । परब्रह्म की उपासना करने वाले परमात्मा से मिलते हैं । यदि परमात्मा की ओर प्रवृत्त न हो तो इसमें परमात्मा का क्या दोष है?

श्रीसर्वदर्शन- तो फिर यह जीव परमात्मा से विमुख क्यों रहता है । अपना कल्याण क्यों नहीं चाहता ?

श्रीरामानन्द- इसका समाधान तो स्वयं भगवान् ने ही कर दिया है

"न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
मायया॒ऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः"॥ (गीता ७।१५)

अर्थात् - कुमार्ग गामी नराधम और मूढ़ व्यक्ति मुझको प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे आसुरी भाव से सम्पन्न हैं, और माया या अज्ञान के कारण उनका ज्ञान अपहृत हो गया है ।

श्रीसर्वदर्शन- जिस प्रभु की करुणा का कोई पार नहीं है ऐसा प्रभु अपनी अहैतु की कृपा द्वारा उन मूढ़ जनों का उद्धार क्यों नहीं कर देता ?

श्रीरामानन्द- माया से जिनकी चेतना का हरण कर लिया गया है वे मायाजाल और उसके प्रभाव को त्याग कर भगवान् की शरण में जाने की कामना ही नहीं करते प्रायः वे पराङ्मुख होकर बाहर बाहर ही परिभ्रमण करते रहते हैं, तो फिर भगवान् उन्हें अपनी ओर उन्मुख करके उद्धार के लिये श्रम क्यों करें । न तो माया ही उनको छोड़ती है और न ही वे माया को छोड़ने में समर्थ हो सकते हैं । भगवान् पर उनकी श्रद्धा नहीं है, विश्वास नहीं है, तो फिर भला वे भगवद् वचनों में विश्वास कैसे कर सकते हैं ? बिना भगवदनुकम्पा के या बिना शरणागति के मायाबन्धन से विमुक्त कैसे हो सकते हैं ? 'सर्वदाऽनन्यभावेन" सर्वदा अनन्य भाव से जो भगवान् के चरणों का आश्रय ग्रहण करते हैं और जब भगवान् उनके ऊपर अनुग्रह करते हैं तभी वे माया के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं । अन्यथा प्रभु माया अतीव दुस्तर है । वे लोग माया को अपनी प्रेयसी मानते हैं और माया जब उनसे लिपट जाती है ऐसे दूसरे के अधिकार से संसक्त पुरुषों का प्रभु कैसे उद्धार करें ? भगवान् मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले लोगों के विषय में कहते हैं- अपना मन सभी ओर से हटाकर केवल

मुझ में ही अपने चित्त को लगा दो । जो एकमात्र मेरी शरण हो जाते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं । अन्यथा की स्थिति में इस मोहनी माया से पार हो जाना अत्यन्त कठिन ही नहीं असंभव है । सब प्रकार से प्रयत्न करने पर भी वह व्यक्ति बन्धन से मुक्त नहीं होता है ।

श्रीसर्वदर्शन- यदि शरणागति के बाद माया के बन्धन से मुक्त होना है, तो ईश्वर ने क्या उपकार किया ?

उक्तञ्च- **''सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च याचते ।**
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥'' इति । (वा.रा.)

श्रीरामानन्द- भगवान् को किसी के शुभ या अशुभ कर्मों की कोई अपेक्षा नहीं है । वे तो केवल भक्त की सुदृढ़ आसक्ति को ही अपने प्रति देखा करते हैं । यदि वह निश्छल भाव से सच्चे संकल्प के साथ अनन्य भक्ति योग से सर्वथा साधन रहित होकर **भी** यह प्रार्थना करता है कि हे निष्पाप परमात्मा ! मैं तुम्हारी शरण में हूँ तो करुणासागर प्रभु शीघ्र ही द्रवित हो जाते हैं उसको माया के बन्धन से मुक्त कर देते हैं, तथा सभी ओर से अभय कर देते हैं ।

कहा भी गया है- भगवान् कहते है जो एक बार मेरी शरण में आकर 'प्रभो ! मैं आपका हूँ'' इस प्रकार याचना करता है उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूँ यह मेरा व्रत है ।

श्रीसर्वदर्शन:- ''द्रष्टा चेद् भगवान् साक्षात् जीवोऽघं कुरुते कथम् ?''
कथं वृद्धिश्च पापानाम् किं न रुन्ध्यात् तदीश्वर: ?

श्रीसर्वदर्शन- यदि भगवान् साक्षात् दृष्टा है तो जीव पाप कैसे कर डालता है और पापों की वृद्धि कैसे हो जाती है । परमेश्वर पाप करने से क्यों नहीं रोकता ?

श्रीरामानन्द- कारण यह है कि उसका ईश्वर पर शास्त्र पर तथा ईश्वर के वचनों पर शास्त्र पुराणों पर विश्वास ही नहीं है इसीलिये वह पाप करता है । यदि पाप कार्य करने के पहले उसका भगवान् पर सुदृढ़ विश्वास हो जाय, तो निश्चित रूप से हृदय में स्थित

भगवान् उसको रोक देंगे । फिर वह व्यक्ति यह स्वयं विचार करेगा कि भगवान सर्वत्र है और वह देख रहा है इसलिये मैं कहीं भी किसी भी प्रकार का पाप नहीं करूँगा । स्मृति भी- भगवान् तुम्हारे हृदय में विद्यमान हैं सबका नियमन करते हैं उस अन्तर्यामी के बारे में यदि निर्विवाद विश्वास हो जाय तो व्यक्ति से कोई भी पाप नहीं होगा फिर उसको पाप धोने के लिए गंगा या कुरूक्षेत्र जाने की आवश्यकता नहीं है ।

श्रीसर्वदर्शन- भगवन् ! क्या कोई ईश्वर की प्राप्ति का उपाय है ?

श्रीरामानन्द- क्यों नहीं ? भगवान् की निष्काम प्रेमा भक्ति एवं सब में आत्मभाव ही उसकी प्राप्ति का साधन है । गीता में भगवान ने कहा है- एकमात्र भक्ति से ही मैं पकड़ में आ सकता हूँ । वेदों के ज्ञान से, तप से, दान से तथा यज्ञ से भी मैं उतना प्रसन्न नहीं होता हूँ । जितना कि अनन्य भक्ति से । मैं जैसा हूँ जो हूँ और जितना हूँ- यह केवल भक्ति से ही जाना जा सकता है । इसके बाद यथार्थ रूप से परमात्मा को जानकर उनको प्राप्त कर लेता है । योग सूत्र भी "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" लिखकर इसी तथ्य पर प्रकाश डाल रहा है । अर्थात् सभी कर्मों का परमात्मा को समर्पण, कर्मफलों का पूरी तरह से त्याग, सभी प्रकार से भगत्समर्पण करना गीता में कहा गया है-मत् कर्मकृत......... हे अर्जुन मेरे लिये कर्म करने वाला, मेरी अत्यधिक सन्निधि में रहने वाला, आसक्ति एवं संगरहित, सभी प्राणियों से द्वेष न करने वाला भक्त मुझको ही प्राप्त होता है, इससे भगवान् ने स्व स्पष्ट किया है कि सदैव सभी प्रकार से निःसंग निस्पृह कर्मफल त्यागी केवल मेरे लिये कर्म करने वाला भक्त मुझे सबसे प्रिय होता है । ऐसा भक्त ही मुझे प्राप्त करता है । ऐसा भक्त केवल मुझे प्राप्त ही नहीं कर लेता वरन् मुझे अपने वश में भी कर लेता है । कहा भी गया है- जैसे साध्वी पतिव्रता पत्नी अपने अच्छे पति को वश में कर लेती है इसी प्रकार वे भक्त मुझे अपने वश में कर लेते हैं । भगवद्भक्ति के माहात्म्य की तो कथा ही विलक्षण है । मात्र ईश्वर के ज्ञान से ही अनन्त जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं और परम आनन्द की

प्राप्ति हो जाती है । "ज्ञात्वा देवं मुच्ये सवपाशैः" आदि वचन प्रमाण हैं । 'तरति शोकं आत्मवित्' आत्म ज्ञानी शोक से पार हो जाता है विद्वान् हर्ष और शोक दोनों को ही छोड़ देता है । उसके प्राणों में कोई व्याकुलता नहीं होती । वह ब्रह्म होकर ब्रह्म में ही समाहित हो जाता है इत्यादि अनेक ग्रन्थों में प्रतिपादित है कि ब्रह्म को जानने वाला सभी आनन्द को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार के हृदय ग्रन्थि को खोलने वाले विविध शास्त्र सम्मत वचनों को सुनकर और भगवद्भक्ति के अनुपम महत्त्व को जानकर ब्रह्मज्ञान एवं ईश्वर ज्ञान के वैशिष्ट्य को समझकर प्रकाण्ड पण्डित वह सर्वदर्शन अपनी चार्वाकगुणाभिभूत भावना को छोड़कर, श्रद्धा भावना से भरकर नितान्त सन्तुष्ट एवं प्रशान्त चित्त होकर श्रेष्ठ भक्त की भाँति केनोपनिषद् की इस पंक्ति का उच्चारण करने लगा-

इस संसार में मानव जीवन पाकर जिसने परमात्मा की प्राप्ति के लिए यत्न नहीं किया उसने अपनी बहुत बड़ी हानि किया और जिसने जान लिया उनको प्राप्त कर लिया वास्तव में उसी ने कुशलता को प्राप्त किया ।

इसके बाद वह प्रणाम करके निवेदन करने लगा- भगवन् ! आपने केवल मेरे प्रश्नों के उत्तर ही नहीं दिये, बल्कि मेरे अज्ञानी हृदय के अन्तराल के अन्धकार को दूर कर विज्ञानज्योति का प्रकाश भी कर दिया है । धन्य हैं आप और धन्य हैं वे गुरुचरण, जिन्होंने आपको पढ़ाया है । चारों ओर धन्यवाद का घोष गूँज उठा और इसी के साथ सभा विसर्जित हो गई ।

सत्रहवाँ परिच्छेद

चिरकाल से अपने हृदय को चन्दन के समान शान्ति देने वाले एवं नेत्रों को आनन्दित करने वाले अपने पुत्र (श्रीरामानन्द) के मुखचन्द्र के दर्शन से वञ्चित उनकी माताजी प्रतिक्षण श्री रामानन्द के मुखचन्द्र का ही चिन्तन करती रहती थीं । निरन्तर अश्रुधारा के प्रवाह से जिनका वक्षःस्थल मलिन हो गया था । चिरकालीन पुत्र वियोग के कारण जिन्होंने अपने सभी श्रृंगार एवं आभूषण छोड़ दिये थे । बारह वर्ष की अवधि से भी अधिक अवधि व्यतीत हो जाने के कारण पुत्र वियोग से उत्पन्न दुःख दाह के कारण हृदय से निकली हुई गर्म निःश्वासों से जिनके ओष्ठ मलिन पड़ गये थे । जो सदैव चिन्ताकुल रहती थीं । भगवच्चरणारविन्द के मकरन्द पान से यद्यपि उनके सभी अंग परिपोषित थे तथापि अंगों से हीन की तरह प्रतीत हो रही थी । सेवा कार्य में निपुण समस्त परिचारिकाओं से सेवित होती हुई भी जो घर के एक कोने में स्थित रहकर एकाकीपन का अनुभव कर रही थीं । रक्त कमल के मुख वाली श्री सुशीला जी पल-पल श्रीरामानन्द के मुख चन्द्र का ही चिन्तन करती थीं ।

निरन्तर अश्रु बहाती हुईं अपने आपको वे धिक्कारती रहती थीं । अपने दुर्भाग्य को कोसती रहती थीं । कहतीं थी-अरे ! मैं कितनी भाग्यहीन हूँ कि विद्यावैभव के विलास एवं विकास से परिपूर्ण अपने मुख चन्द्र की ज्योत्स्ना सुधा से समस्त भूमण्डल को उज्जवल कर देने वाले, अपनी प्रतिभा के चमत्कार से समस्त पण्डित मण्डली को आश्चर्य चकित कर देने वाले, सरलता की मूर्ति अपने ऐसे अद्वितीय पुत्र के होने पर भी मैं पुत्र परिपालन से वञ्चित हूँ । देवताओं की पूजा प्रार्थना करने के बावजूद भी सन्तप्त अन्तःकरण वाली मैं अपने पुत्र (रामानन्द) के मुखचन्द्र चन्द्रिका हेतु चकोरी होकर भी अमावस्या की काली अंधेरी रात्रियों को दुःखपूर्वक काट रही हूँ ।

जब तक मैंने अपने कुल के कल्पवृक्ष का अंकुरण नहीं देखा, तब तक उसके लिये (पुत्र प्राप्ति हेतु) अनेक विधान और अनुष्ठान करती हुई, जिसने जो कुछ पुत्र प्राप्ति हेतु उपाय साधन बताये उनको करती हुई कष्ट का

ही अनुभव करती रही । तदनन्तर शास्त्रविधि से व्रतोपवास यज्ञदानादि उपायों का आश्रय लेकर भगवान् श्री रामचन्द्र के चरण कमलों की आराधना से संवर्द्धित पुण्यों के फलस्वरूप मैंने श्रीरामानन्द जैसे पुत्र के मुखकमल के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया । किन्तु पाँच वर्ष के बाद शीघ्र ही अपनी आँखों के तारे, मनः सन्ताप के हर्ता निजभवन के अन्धकारहर्ता एवं मौन को प्रकाशित एवं मुखरित करने वाले, एवं मन को आनन्दित करने वाले अपने खिलौने को मैंने विद्याध्ययन के लिये भेज दिया ।

अपने हृदय के टुकड़े को भेजे हुये आज केवल कुछ दिन, महीने, ऋतुएँ दो-चार वर्ष ही नहीं बीत गये वरन् बारह वर्ष से अधिक का समय व्यतीत हो गया है । और कितने दिन तक मैं धैर्य रखकर अपने को समझाऊँ ?

वह मेरा बालक महिलाओं के निवास से रहित यतियों संन्यासियों के आश्रम में अपने बाल सखाओं से रहित तथा स्वेच्छापूर्वक बाग बगीचों में भ्रमणं से रहित होकर महात्माओं के साथ रहता हुआ, किनके साथ हँसता होगा, किनसे बात करता होगा और शारीरिक या मानसिक कष्ट होने पर कौन स्नेहशीला माँ वहाँ उसे धैर्य बँधाती होगी । और वहाँ कौन उसे (पुत्र रामानन्द जी) को कौमारावस्था में प्रेमपूर्ण अवलम्बन देती होगी । मातृसुलभवात्सल्य प्रदान कर कौन उसका मनोरंजन कराती होंगी । मधुर-मधुर शब्दों से उसका तोषण पोषण और पौष्टिक तत्त्वों से युक्त मिष्टान्नादि खिलाकर उसको कौन सन्तुष्ट करता होगा । उसके (पुत्र रामानन्द के) निराश होने के समय कौन माँ जैसी ममता दिखाकर मांगलिक आशायें बँधाती होगी उसकी बाल सुलभ टूटी फूटी वाणी को सुनकर उसके किये हुये अपराधों (भूलों) को न मानकर सान्त्वना देकर अपने हृदय से कौन लगाता होगा, वहाँ पर अकेला मेरा पुत्र कभी अपने पिता अपनी माता और कभी अपने बाल्यावस्था की मित्र मण्डली समान आयु वर्ग के बालकों का क्या स्मरण नहीं करता होगा ? वहाँ उसके खेल वाले साथी कहाँ हैं ? इस प्रकार नाना प्रकार से चिन्तन करती हुई शीलवती श्रीरामानन्द जी की माँ सुशीला अनेक प्रकार से स्मरण कर करके नेत्रों से अश्रुपात करती हुई अपने वक्षःस्थल को भिगोती रही । बेटे ! मैं तो पूर्णतया पराधीन नारी हूँ किन्तु तुम्हारे पिताजी जो पुरुष हैं (स्वाधीन है) क्या वे भी तुम्हारा स्मरण नहीं करते ?

जैसे ही इस प्रकार के वाक्य माँ सुशीला के मुख से बाहर निकले वैसे ही पुण्यसदन ने प्रसन्न मुद्रा में सहसा गृह में प्रवेश करते हुये सैकड़ों चिन्ताओं में डूबी हुई माँ सुशीला को शुभ सन्देश देकर प्रहर्षित किया।

प्रिये ! इस प्रकार तुम पुत्र की चिन्ता से स्वयं को व्यथित मत करो। पुण्यशीला देवि ! अपने को व्यर्थ में ही क्यों दुःखी कर रही हो। सिंहों के कुल में सिंह ही जन्म लेता है तुम्हारा यह आँखों का तारा इस समय सभी आत्मीय जनों के हृदयों को प्रसन्न करने वाला बन गया है। वह काशी में आयोजित सम्पूर्ण श्रेष्ठ विद्वानों की गोष्ठी में शास्त्रार्थ की कला कुशलता के कारण पंडिताग्रणी बनकर अपने कुल की कीर्तिचन्द्रिका को सम्पूर्ण संसार में फैला रहा है।

हमारे समकक्ष वाले अपनी ही जाति बिरादरी के भाई-बन्धु इस समय पुण्य सदन के पुण्य फलों के परिपाक को देखकर ईर्ष्यालु हो उठे हैं। अभी-अभी वहीं से सकुशल यात्रा सम्पन्न कर लौटने वाले लोग प्रत्यक्ष उस शास्त्रार्थ गोष्ठी को देख और सुनकर रामानन्द की मुक्तकंठ से प्रशंसा कर रहे थे। वहाँ के (काशी के) सम्मानित विद्वद्श्रेष्ठ जनों ने श्रीरामानन्द का उत्साहपूर्वक सादर सम्मान किया है। तुम्हारे पुत्र रामानन्द ने विजयोपहार एवं प्रसूनहार प्राप्त किया है। इससे और अधिक शुभ समाचार तुम्हें क्या चाहिये ? पुत्र की विजय कुशल कामना ही तो हमारी सबसे बड़ी कामना है।

इस वृत्तान्त को सुनकर सुशीला को चौगुनी प्रसन्नता हुई।

सुशीला- स्वामी ! क्या यह सब सत्य है ? मेरा प्यारा बेटा रामानन्द अब इस प्रकार का हो गया है ?

पुण्यसदन- और क्या ! जितने भी यात्री वहाँ से लौटे हैं सभी की जिह्वा रूपी रंगशाला में यही रामानन्द की विजयवार्ता नर्तकी के समान नृत्य कर रही थी।

सुशीला- क्या मेरा बेटा अब भी काशी में ही निवास करेगा ?

पुण्यसदन- उसके गुरुजन उसको जैसी आज्ञा देंगे।

सुशीला- तो हम लोग ही वहाँ चलकर अपने पुत्र का मुख देखकर अपने आपको सुखी बनायें।

पुण्यसदन- अवश्य ही आपके इस प्रस्ताव का मैं सादर सम्मान करता हूँ।

सुशीला- मैं आज ही इस उपलक्ष में दक्षिणा दानादि से याचकों को सन्तुष्ट करूँगी।

अठारहवाँ परिच्छेद

'जिसके ऊपर गुरुकृपा है उसके लिये कहीं कोई क़ठिनाई नहीं है, इस नियम के अनुसार आचार्यवर्य्य (श्रीरामानन्द) को श्रीराघवानन्दाचार्य ने अनुग्रहपूर्वक समस्त वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण और समस्त स्मृतियाँ पढ़ाकर परम सिद्धि को प्राप्त करा दिया। प्रिय शिष्य श्रीरामानन्द पंडित मंडलभूषण बन गये और सब प्रकार से सुयोग्य हो गये। अभी उनके बीस वर्ष भी पूरे नहीं हुये फिर भी सम्पूर्ण पाण्डित्य और गुणों के वे सागर बन गये। अत्यन्त अल्प आयु में भी अलौकिक विद्या वैभव महान् व्यवहार कुशलता, अद्‌भुत प्रतिभा पटुता, गम्भीरता,उदारता आदि अनन्त गुण गौरव पूर्णता प्राप्त कर समस्त विद्वानों के मानस हंस बने हुये विद्वद्‌वरेण्य रूपी लता के सुमन गुच्छ बनकर अपनी अपूर्व सुरभि से सहृदयों के हृदय को आकृष्ट कर लिया। देवों और देवी सरस्वती की समाराधना रूपी सम्पत्ति से युक्त काशी स्थित विद्वानों की मौलिमणि बनकर सर्वमान्य पद को सुशोभित किया। दिग्दिगन्त में फैले हुये प्रतिभा के प्रभाव को देखकर सुदूर देशों से दर्शन एवं वार्ता के सुख का अनुभव करने हेतु आये दिन विद्वानों की सेवा एवं सम्मान में निपुण रामानन्द ने वार्ता प्रसंग के क्रम में चलने वाले वेद वेदान्त के विवेंचन से उत्पन्न जटिल समस्या रूपी ग्रन्थियों का मोचन कर समाधान में अत्यन्त दक्षता प्राप्त की थी। जिसके कारण उनका पुण्यसदन का आत्मज होना सार्थक हो गया।

एक बार अपने आश्रम में रहकर अध्ययन करने वाले श्रीरामानन्द की योग्यता का पूर्ण विकास देखकर श्रीगुरुचरण राघवानन्दाचार्य ने श्रीरामानन्द को अपने समीप बुलाकर प्रेमपूर्वक कहा। बेटा ! रामानन्द ! अब पूर्णरूपेण योग्यता को प्राप्त तुम में अर्थात् एक सुयोग्य ब्राह्मण कुमार में विद्या विवेक कर्मकाण्ड आदि का जितना भी कौशल एवं गुण अपेक्षित हैं वे सब तुममें समाहित हो चुके हैं। शास्त्र पुराणादि में तुम्हारी प्रवीणता पूर्ण विकसित हो चुकी है और वेद वेदान्त का तत्त्व बोध तो निरन्तर तुम्हारे बुद्धि वैभव का विकास कर ही रहा है। वेदांग भी तुम में सुशोभित हो रहे हैं।

अब कोई भी ऐसा ज्ञान-विज्ञान नहीं है जो तुममें दिखाई न पड़ रहा हो। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसकी पूर्णता तुममें न हो या जिसकी प्राप्ति के लिये तुम्हारा यहाँ आश्रम में रहना आवश्यक प्रतीत हो।

भगवान् की कृपा से इस समय तुम्हारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने योग्य योग्यता भी सम्पन्न हो चुकी है। चिरकाल से तुम्हारे दर्शन रूपी अमृत की पिपासा से आकुल तुम्हारे माता और पिता चातक की भाँति बादलों के आगमन की प्रतीक्षा करते हुये तुम्हारा मुख मण्डल देखने हेतु सफल मनोरथ वाले कृषक भी भाँति उत्सुक हैं। बारह वर्ष की एक लम्बी अवधि व्यतीत हो चुकी है। वियोग संतप्त तुम्हारी माताजी शीघ्र ही तुम्हारे चरण चिन्ह्नों से अंकित अपनी गोद को देखने की कामना कर रही हैं।

अत: मैं अपने हार्दिक शुभाशीर्वचनों से विभूषित करते हुये तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम अब अपने भवन को अलंकृत कर पूर्ण रूप से माता और पिता को आनन्दित करो। जिस प्रकार यहाँ मेरे पास रहते हुये विधिवत् अध्ययन पूर्ण कर विशिष्ट सम्मान को प्राप्त करते हुये पण्डित मंडली में अग्रगण्य बनकर मुझे आनन्दित किया है ठीक इसी प्रकार उनकी (माता पिता की) इच्छा के अनुरूप दिखाये गये मार्ग से गृहस्थाश्रम में प्रवेश की विधि में दीक्षित होकर सभी लोगों का पालन एवं प्रसादन करते हुये, दान मान सेवा सत्कारादि से समागत अतिथियों का अभिनन्दन करते हुये एवं अपनी कुल परम्परा के अनुरूप विधानों का पालन करते हुये जननी एवं जनक के मन को सन्तुष्ट करो।

आचार्य मुख से अचानक अभूतपूर्व वाणी को सुनकर श्रीरामानन्द जड़ीभूत एवं वज्राघात से स्तब्ध की भाँति जैसे उनके पैरों के नीचे की जमीन खिसक गई हो और वे निराधार हो गये हों वे अत्यधिक विकल हो गये। किसी बहुत बड़े अनिष्ट की चिन्ता से डर गये। उनका कंठ सूख गया और वे एक शब्द भी न बोल सके। चित्र की भाँति चेतना विहीन होते हुये अञ्जलि बँधे हुये श्वास गति अवरूद्ध हुये व्यक्ति की भाँति हो गये। केवल नयनों से गिरते हुये आँसूओं से ही उनके जीवित होने का पता चल रहा था। सभी इन्द्रियाँ जैसे कार्य व्यापार से विरत हो गई हों। ऐसी स्थिति उनकी लोग देख रहे थे। न तो वे अपने स्थान से तनिक भी आगे पीछे हुये और न ही मुख से कुछ कह सके।

श्रीराघवानन्दार्य ने इसके पूर्व उनकी ऐसी विकृत आकृति कभी भी नहीं देखी थी । इस प्रकार की चेष्टा वाले, हतप्रभ, समस्त स्मृति रहित, अवरूद्ध कण्ठ, कुण्ठित बुद्धि, श्रीहीन, अति गम्भीर धीर होने पर भी नितान्त धैर्यहीन, अकल्पनीय अशुभ कल्पनाओं से आकुलित हृदय वाले श्री रामानन्द को सान्त्वना प्रदान करते हुये श्री राघवानन्दाचार्य अपनी पीयूष वर्षिणी वाणी द्वारा जीवन प्रदान करते हुये अपने संजीवनी स्वरूप कर कमल को उनके मस्तक पर रखकर वात्सल्यपूर्ण उल्लासपूर्ण मधुर मन्द स्वर से सम्बोधित करते हुये पुनः बोले-

बेटा ! रामानन्द ! यद्यपि तुम पूर्णरूपेण मेरे पास प्रिय शिष्य हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । मैं यह भी भलीभाँति जानता हूँ कि तुम्हारे द्वारा इस संसार का महान् उपकार होगा । इस समय धार्मिक लोगों की स्थित अत्यन्त संकटाकीर्ण है । सभी लोग अज्ञान रूपी अन्धकार से आवृत्त होकर ज्ञान विज्ञान के श्रेष्ठ प्रकाश को नहीं देख पा रहे हैं अपने लिये सरल, उन्नति कारक समस्त विपत्तिहारक, और संसार रूपी सागर से उद्धार करने वाले किसी भी मार्ग को नहीं खोज पा रहे हैं । मैं यह भी अच्छी तरह से देख रहा हूँ कि तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा श्रेष्ठ विद्वान् नहीं है जो अपने तपोबल से शास्त्र ज्ञान से अपनी प्रतिभा के चमत्कार से तथा सरल सदुपदेश से लोगों का उद्धार कर सके । अथवा उनका कल्याण कर सकें । भगवान् से प्राप्त कृपा शक्ति वाले एकमात्र तुम्हीं ऐसे हो जो भगवत् कृपा से सभी कार्य पूर्ण कर सकोगे । फिर भी मैं तो यह नहीं चाहता कि धर्म मर्यादा का अतिक्रमण हो अथवा प्राचीन परम्परागत शास्त्रीय पद्धति नष्ट हो जाय । और वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत चातुवर्ण्य आश्रम व्यवस्था विघटित हो । इसलिये तुम्हें प्रेरणा देता हूँ कि तुम अपने कल्याण के साथ-साथ संसार का भी कल्याण करो ।

क्योंकि बेटा ! यह केवल मेरी ही आज्ञा नहीं है अपितु श्रुति स्मृति प्रतिपादित पहले से ही चली आ रही है मोक्ष साधक पद्धति भी है । कहा भी गया है-

ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रवेश लेना चाहिये । इति जाबाल श्रु ४ अतः गृहस्थ आश्रम में बुद्धि लगानी चाहिये ।

''चतुर्थमायुषोभागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥'' (मनु:४। १)

मनुस्मृति में कहा गया है- ब्राह्मण को अपनी आयु का चतुर्थांश सर्वप्रथम गुरुकुल में बिताकर आयु का द्वितीय भाग गृहस्थाश्रम में पत्नी के साथ व्यतीत करना चाहिये ।

इस प्रकार शास्त्र में कहा गया है कि पुरुष की सौ वर्ष की आयु होती है इस नियमानुसारं २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य, ५० वर्ष तक गृहस्थ, ७५ वर्ष तक वानप्रस्थ एवं इसके आगे जीवन पर्यन्त संन्यस्त होकर ही जीवन बिताना चाहिये । अत: विद्याध्ययन के पश्चात् अब यह तुम्हारा द्वितीया श्रम (गृहस्थ) का प्रवेश काल है । अत: मैं आग्रह पूर्वक कहता हूँ कि तुम अपने घर जाकर अपने माता एवं पिता को पूर्ण रूपेण सन्तुष्ट कर उनकी आज्ञानुसार सत्कुलीन, सुयोग्य, गृहकार्य निपुण, अपने से कम आयु वाली मनोनुकूल, भयंकर संसार सागर से पार ले जानी वाली, मनोहराकृति, आपत्तिहारिणी उज्ज्वल कान्ति वाली, सवर्ण कन्या से विवाह करके गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करो ।

श्रीरामानन्द ने कहा-यद्यपि मैंने अपने जीवन में आज तक स्वप्न में भी गुरु चरणों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया । जाग्रदवस्था की तो बात ही क्या है । किन्तु आज यह महान् धर्म संकट का अवसर उपस्थित हो गया है । मुझे यह ब्रह्मचारी धर्म बार-बार प्रेरित कर रहा है कि गुरुचरणों की आज्ञा का पालन करना चाहिये, किन्तु दूसरी ओर हृदय में स्थित अन्तर्यामी की प्रेरणा है कि गुरुचरणों की सन्निधि का त्याग कर देनें पर अन्यत्र तीनों लोकों में इस प्रकार का सर्वांगीण सुख प्राप्त नहीं हो सकता । अत: दोनों ओर पाशरज्जु है । उसके बीच में पड़े हुये मुझे क्या करना चाहिये क्या न करना चाहिये । क्या होना चाहिये ? मेरी बुद्धि कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रही है । श्रीरामानन्द ने इस प्रकार लम्बी साँस लेकर एवं अपने को कुछ संयत कर 'मेरे लिये यह धृष्टता का प्रथम अवसर है यह भी सोचकर अंजलि बद्ध गुरुचरणों में गिर कर करुण होकर अतिदीन हीन वाणी से प्रार्थना प्रारम्भ किया ।

सम्मान्य श्रीगुरुमहाराज ! निरन्तर शत शत प्रणाम पूर्वक मेरा यह निवेदन है कि श्री गुरुचरणों, मातृपितृ चरणों एवं ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ जनों की

आज्ञा तो पूर्ण रूपेण निस्सन्देह पालन करने योग्य है-क्योंकि-आज्ञा गुरुणामविचारणीया'' इसके अनुसार यह सबका परम धर्म है । अतः यदि मैं कुछ भी उत्तर दूँ तो वह बहुत बड़ी धृष्टता होगी । तथापि श्रीचरणों को करुणा वरुणालय दया सिन्धु एवं क्षमा रूपी कल्प वृक्ष समझकर प्रिय अथवा अप्रिय कुछ भी कहने का साहस कर रहा हूँ । आपके द्वारा निज गृह जाकर गृहस्थाश्रम के प्रपंच को स्वीकार करने की आज्ञा सुनकर मेरा मन अत्यधिक दुःखी है । इस सेवक को इतने समय तक श्री चरणों की सन्निधि में आमोद एवं प्रमोद की लहरों के बीच अनन्त आनन्द के सिन्धु में अवगाहन करने से प्राप्त महान रत्नमालाओं के समान सौख्य एवं सौभाग्य की प्राप्ति हुई है । अब उसी सेवक को गृहस्थ रूपी महा गम्भीर गर्त में गिराने के लिये नारकीय यातना के समान भयंकर रीछ की दाढ़ों के बीच पिसने जैसी क्लेश की अनुभूति कराने के लिये ऐसी आज्ञा देकर अपने सहज स्वभाव के विपरीत यह भावना आपके वात्सल्यपूर्ण अन्तःकरण में कैसे उत्पन्न हो गयी । प्रभो ! मैं गुरुचरणों की शरण का परित्याग कर अन्यत्र क्षण भर भी ठहरने में समर्थ नहीं हूँ । आपकी समीपतारूपी सन्निधि (महानिधि) प्राप्त करने के बाद फिर से दरिद्रता भाग्यहीनता एवं दीनता हीनता को प्राप्त नहीं होना चाहता । आपके श्रीचरण कमलों की छत्रछाया प्राप्त कर प्रतिदिन दर्शन स्पर्शन के आनन्द को प्राप्त करता हुआ जैसी लोक सेवा यहाँ रहकर कर सकूँगा वैसी अन्यत्र सम्भव नहीं है । तथा इसी मार्ग से अपना सर्वविध कल्याण भी मैं देख रहा हूँ । अतः बारम्बार यही प्रार्थना कर रहा हूँ कि अनेक दुःखों से परिपूर्ण चँचल तरंगों सेतरंगायित पुत्र कलत्रादि रूपी मगरमच्छों से व्याप्त स्वजनों तथा बन्धुबान्धवों के भयंकर जलचक्र से युक्त, पार जाने में कठिन, संसार रूपी सागर में मुझे असमर्थ तुच्छ एवं असहाय को न डालिये । भगवन् ! मेरी रक्षा कीजिये । मैं आपका हूँ । अशरण शरण चरणों का मैं आश्रय लेता हूँ ।

इस प्रकार करुण क्रन्दन के समान प्रणामपूर्वक श्रीरामानन्द के अत्यन्त भावपूर्ण निवेदन को सुनकर श्री आचार्य चरण के हृदय में भी सहसा करुणा का सागर प्रवर्द्धित हो उठा । वे शीघ्र ही परमभक्त, निजचरण आसक्त, सर्वथा अनुरक्त आनन्दयुक्त हृदय वाले श्री रामानन्द के पास जाकर

उन्हें अपने समीप खींचकर, छाती से लगाकर सरस मधुर एवं हृदय से निस्सृत अपने अनुपम वचनों से पुनः सम्बोधित करने लगे।

प्रिय वत्स ! स्वधर्म की दृष्टि से तुम्हें तनिक भी भयभीत नहीं होना चाहिये। गृहस्थ धर्म की भयावह कल्पना करके तुम व्यर्थ ही व्यथित हो रहे हो। यह गृहस्थाश्रम भयंकर नहीं कल्याणकर हैं, मनोहर है। सभी आश्रमों का आधारभूत है-पवित्र है। सभी प्राणियों का पोषक हैं अतिथि सत्कार ही इसका धन है। समस्त आश्रमीजनों की सेवा एवं आहारादि प्रदान करने के कारण इसे श्रेष्ठ माना गया है।

तथाहि- **''यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।**
''तथैवाऽऽश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥'' (मनुः)
''यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ (मनु ३। ७७)

जैसे सभी नदियां एवं नद समुद्र में संस्थिति विश्राम को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम वाले गृहस्थाश्रमी के यहाँ विश्राम पाते हैं।

जैसे वायु के सहारे सभी जन्तु जीवन धारण करते हैं उसी प्रकार गृहस्थाश्रमी के सहारे सभी आश्रम वाले जीवनयापन करते हैं। इसलिए तुम्हें डरना नहीं चाहिए भगवान् ने भी कहा है कि अर्जुन ! अपने धर्म को देखकर मनुष्य को घबड़ाना नहीं चाहिए।

अतः सर्वश्रेष्ठ इस गृहस्थाश्रम से आप जैसे विद्वान् को भयभीत नहीं होना चाहिये। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि यहाँ के जीवन में जैसा स्वातन्त्र्य एवं सुख आपने प्राप्त किया है उसी सुख से आपका लगाव अधिक घनी भूत हो चुका है। इसी आश्रम में निवास करते हुये आपने अपने गुणों के कारण एवं प्रतिभा की कुशलता के कारण जो लोक प्रियता आपने प्राप्त की है, उस वियोग को ही असह्य मानते हुये तुम अपने कर्त्तव्य से विमुख हो रहे हो, किन्तु यह उचित नहीं है। रामानन्द ! तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि कर्त्तव्य की वेदी में इस महान् मोह का बलिदान तुम्हें करना ही होगा। देखो तो चम्पा के पुष्प में सौन्दर्य, सुगन्ध एवं पराग सब कुछ है किन्तु भ्रमरों के लिये सब व्यर्थ है। उसी प्रकार यहाँ रहने पर भी समुन्नत भावना-आदर्श

जीवन त्याग, संयम, संतोष, सदाचार सब कुछ है, परन्तु आपके लिये यहाँ की सभी विशेषताओं की अपेक्षा गृहस्थ आश्रम ही श्रेष्ठतम है ।

वाक्यपूर्ति के पहले ही चिन्ताओं के कारण विवेकहीन होते हुये से गदगद स्वर एवं अवरूद्ध कण्ठ से नेत्रों में आँसू भर कर श्रीरामानन्द ने कहा-

पूज्यवर ! बस ! बस ! कृपा कीजिये । प्रभो ! क्षण भर ठहरिये । यद्यपि गृहस्थ आश्रम में समस्त चर एवं अचर से परिपूर्ण जगत के सभी सुख हैं वह गृहस्थाश्रम सभी प्रकार के कल्याणोंका निधान भी है । यहाँ तक कि खुला हुआ मोक्ष का द्वार भी है । किन्तु संसार के प्रति पूर्णरूपेण श्रद्धा विहीन व्यक्ति की प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है । उसके लिये तो सम्पूर्ण सुखों का भाजन होते हुये भी वह दुःखों का भंडार है । अतः मेरी श्रद्धा संसार में नहीं है, मैं उसमें कैसे प्रवृत्त हो जाऊँ । भगवन् ! जिसने त्रैलोक्य की लक्ष्मी की प्राप्ति कर ली हो, भला वह भिक्षा याचना में प्रवृत्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं ।

एवं लब्धपरानन्दः क्षुद्रानन्दं न कांक्षते ।''

जिसने भगवत् ज्ञानमय परमानन्द को प्राप्त कर लिया है वह लौकिक तुच्छ आनन्दोंके लिये प्रयास नहीं करता । कहा गया है-

किञ्च- **''क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।''**

अर्थात् भूख से अत्यन्त व्याकुल होने पर भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति विष भक्षण की आकांक्षा नहीं करता ।

उसी प्रकार मैं इस संसार में कठिन से कठिन दुख सहने के लिये उद्यत होकर भी गृहस्थाश्रम के बन्धन में नहीं पड़ना चाहता जो आत्मपतन का कारण है ।

श्रीराघवानन्दाचार्या- वत्स रामानन्द ! ऐसी व्यर्थ की बातें क्यों करते हो ?

श्रीरामानन्द- मैं अपनी आत्मा की आवाज को ही आपके समक्ष रख रहा हूँ, अन्य कुछ नहीं ।

श्रीराघवानन्दाचार्या- तो आप संन्यास लेने के इच्छुक हैं ?

श्रीरामानन्द- इसके बिना (संन्यास के बिना) जीव का, शरीर का अथवा सम्पूर्ण वंश का कल्याण गृहस्थ कूप में पड़ने से सम्भव नहीं है ।

श्रीराघवानन्दाचार्या- किन्तु देवऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण से जब तक व्यक्ति मुक्त नहीं होता तब तक मोक्ष संभव नहीं है । शास्त्र की आज्ञा भी है-

तीनों ऋणों से मुक्त होकर ही मोक्षमार्ग में मन को लगावें ।

यद्यपि शास्त्राज्ञा यही है किन्तु श्रुति ऐसा भी कहती है-

अर्थात् मनुष्य के हृदय में जिस क्षण वैराग्य का उदय हो जाय उसी क्षण उसको संन्यास लेकर निकल जाना चाहिये । उसके लिये इन तीन ऋणों से मुक्त होने की आवश्यकता नहीं है । जब वह व्यक्ति मोक्ष की इच्छा करता है तभी उसके अन्दर तीव्र वैराग्य भावना जग जाती है । उसी समय वह तीनों आश्रमों के द्वारा पालन करने योग्य तीनो ऋणों से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । तथा यदि वह व्यक्ति सर्वथा संन्यासोचित सभी कर्म प्रारम्भ कर देता है तो उसके लिये विधि निषेध के प्रश्न भी नहीं उठते । गीता में कहा है-

''यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥''
''नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।''

जो मानव अपने आत्मा में ही रमण करता है अपने में ही तृप्त है और आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसके लिए कुछ भी कार्य शेष नहीं है न तो उसे विहित कर्म से मतलब है और न ही निषिद्ध कर्म से तथा किसी भी प्राणी से भी उसका कोई प्रयोजन नहीं है ।

यह केवल वाणी का ही विषय नहीं है, अपितु व्यवहार में भी दृष्टिगोचर होता है । क्योंकि सनक, सनन्दन सनातन एवं सनत्कुमारादि तथा नारद श्रीशुकाचार्य ऋभु एवं वामदेवादि जन्म से ही, बचपन से ही ब्रह्मचर्य आश्रम से ही सीधे परिव्राजक (संन्यासी) बने हैं । कहा भी है- अन्यथा ब्रह्मचर्य आश्रम से ही सन्यस्त हो जाय ।

इस प्रकार वेदोक्त वचनों के अनुसार ही सभी महापुरुष गृहस्थाश्रमादि के बन्धन को निरर्थक समझकर ब्रह्मचर्याश्रम से ही विरक्त हो गये हैं । सभी जीवों के उद्धार रूपी कार्य जो लोक कार्य कहे जाते हैं उनको भी उन लोगों ने पूरा किया है ।

इसलिये भगवन् ! मेरे लिये ही यह विघ्न क्यों उपस्थित हो गया ।

क्या करुणासागर आप भी मेरे ऊपर दया नहीं करना चाहते ?

श्रीराघवानन्दाचार्य - प्रिय बटुक ! जो भी तुमने कहा वह पूर्णरूपेण सत्य ही है । तुम्हारे वैराग्य में भी मुझे पूर्ण विश्वास है । किन्तु इस समय तुम्हारे माता-पिता वृद्धावस्था में हैं । उन दोनों के एकमात्र अवलम्बन तुम्ही हो । उनका पूरा जीवन तुम पर ही निर्भर करता है । इस प्रकार की निराधार परिस्थिति में यदि तुम उनको छोड़कर संन्यासी बन जाओगे तो उनकी आत्मा क्या कहेगी ? जरा सोचो । बहुत बड़ी तपस्या एवं भगवत्कृपा से तुम्हें प्राप्त करके तुमसे सुख प्राप्ति की कामना करने वाले तुम्हीं से आशा बाँध लेने वाले चातक की भाँति वे माता-पिता तुम्हारी प्रतीक्षा में हैं । उन दोनों के कुल दीपक तुम्हीं हो । पितरों के लिये जलाञ्जलि तर्पण श्रद्धादि करने वाले एकमात्र तुम्ही हो । पुत्र वाले होकर भी तुम्हारे माता-पिता बिना पुत्र वालों की तरह रहें क्या यही पुत्र की पुत्रता है । पुनः एक बार प्रशान्त चित्त होकर मन में इन बातों का चिन्तन करो ।

इस प्रकार गुरु और शिष्य के बीच प्रश्नोत्तर का क्रम चल ही रहा था कि उसी समय कोई छात्र आकर निवेदन करने लगा-भगवन् ! कुछ अतिथि यात्री प्रयागराज से आये हुये हैं, और इस रामानन्द के माता-पिता भी साथ में हैं । सुनते ही इस प्रसंग को समाप्त कर श्रीरामानन्द के साथ आचार्य प्रवर ने अतिथि शाला की ओर प्रस्थान किया ।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

आज आश्रम की साज सज्जा और सभी कार्य व्यवहार क्षुब्ध, गम्भीर, अतीव विचित्र किन्तु महत्त्वपूर्ण दिखाई पढ़ रहे थे । आश्रम निवासी सभी छात्र, आश्रमवासी सभी महात्मा तथा आने वाले अतिथियों का नैरन्तर्य सेवाभावापन्न नागरिकों के उदार परिवार श्रीराघवानन्दाचार्य का निर्णय सुनने की इच्छा लेकर एकत्रित हुये थे सुसज्जित तथा उच्चासन पर विराजमान श्री आचार्य चरण एवं उनके चरणों के समीप नम्रता के भार से नतमस्तक विद्या के प्रकाश से प्रकाशित श्रीरामानन्द विचारमग्न मुद्रा में शान्तभाव से बैठे हुये थे । एक ओर आये हुये विद्वद्गण और दूसरी ओर श्रीरामानन्द के माता-पिता अपने पारिवारिक सदस्यों के साथ विराजित थे । यह समागम अभूतपूर्व था ।

उस समय श्री राघवानन्दाचार्य ने प्रिय रामानन्द के इस प्रकार के सम्बोधन से प्रासंगिक विषय की ओर सभी आगन्तुकों का ध्यान आकृष्ट किया ।

बेटा ! तुमको यह नहीं भूलना चाहिये कि "नास्ति पितृसमो गुरुः" माता पिता के समान और कोई गुरु नहीं है । माता पिता ही परम तीर्थ हैं । अतः इन महान् तीर्थों की बिना शुभाज्ञा प्राप्त किये किसी भी साधक को अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती, इनकी (माता पिता की) कृपा नितान्त आवश्यक है । यदि तुम्हारा संन्यासग्रहण करने का सुदृढ़ संकल्प बन गया है, तो सर्वप्रथम अपने माता-पिता की आज्ञारूपी शुभाशीष को प्राप्त करने के लिये उद्यत हो जाओ । यही तुम्हारा प्रथम धर्म एवं परम कर्त्तव्य है । देखो तो ! इस समय तुम्हारी सरल स्वभाव वाली यह माताजी अपलक दृष्टि से जिस प्रकार प्यासी चातकी नवीन जल के भार से युक्त मेघ माला को सतृष्ण होकर देखती है ठीक उसी प्रकार तुम्हारे मुखचन्द्र मण्डल को देखती हुई तृप्त नहीं हो रही हैं ।

इस प्रकार आचार्य चरणों के द्वारा सम्बोधित करने पर शुभ अवसर को प्राप्त कर महतीशीलवती सुशीला (रामानन्द की माताजी) बोल उठीं-

जरावस्था से विकल अवयवों वाली मुझ सुशीला के परम धन ! विविध कल्पनारूपी सुमन गुच्छों से समलंकृत शुभ आशाओं रूपी कल्पवृक्षों के हमारे उद्यान को इस प्रकार एक ही झटके में मत उजाड़ो । एकमात्र तुम्हारे ही ऊपर जिनका जीवन आश्रित है जिनकी अन्य कोई शरण नहीं है ऐसे हम दोनों (माता-पिता) के जीवनों के ऊपर जीवनदायिनी अपनी करुणा भरी दृष्टि डालकर कुछ विचार अवश्य करो । हम नेत्रहीनों के तुम्हीं एकमात्र चक्षु हो । सूर्य की भाँति कर्म के प्रवर्तक हो । वृद्धावस्था से विकल अंग प्रत्यंगों वाले हम दोनों को संसार सागर से पार ले जाने वाले तुम्हीं एक कुशल कर्णधार हो । बेटा ! सांसारिक मोह रूपी अन्धकार से जिनकी दृष्टि अन्धकार युक्त है ऐसे हम लोगों के लिये तुम्हारे ही प्रेम की एकमात्र ज्योति हमारी समुज्जवल ज्योति है । यदि तुम्हीं हमको धोखा देकर, संसार के मोह रूपी गर्त में गिरकर दुखी होते हुये हम लोगों का उद्धार नहीं करोगे तो फिर कौन है जो हमारा अवलम्बन बनेगा । मृत्यु के निकट पहुँचे हुये, रोगग्रस्त एवं शय्या पर पड़े हुये हम दोनों के मुख में गंगाजल बिन्दुओं को डालने वाला तुम्हारे अतिरिक्त और कौन होगा ? प्रिय कुलदीपक ! तुम्हारे अलावा हमारे घर का अन्धकार दूर करने वाला ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाला, आपत्तियों को दूर करने वाला, कुल की आचार परम्परा का अनुसरण करने वाला, सम्पत्तियों का स्वामी तथा आई हुई विपत्तियों का निवारक और कौन हो सकता है ? बेटा प्रिय रामानन्द ! कहो-कुछ तो बोलो सैकड़ों व्यथाओं से व्यथित, विविध रोगों से आकुलित, अकथनीय दशा से युक्त हमारे हृदय को कुछ कहकर सान्त्वना देने के लिये अपनी मधुर वाणी का प्रयोग करो । ऐसा कहती हुई बलपूर्वक अश्रुधारा को रोकती हुई भी नेत्रों से प्रवाहित अश्रुधारा से उनके कपोल भीग गये कण्ठ अवरुद्ध हो गया, कुछ कहने की इच्छा होने पर भी इसके आगे सुशीला कुछ भी नहीं कह पाई ।

कुछ देर रूककर अश्रु प्रवाह से व्यथा का भार कम हो जाने के पश्चात् वह सुशीला पुनः बोलीं-वत्स ! भगवान् की कृपा से मुझे तुम्हारी माँ बनने का गौरव प्राप्त हुआ है, और तुम्हारे जन्म देने के अपने अधिकार की याद आ जाने से मैं पुनः निवेदन कर रही हूँ । प्रिय पुत्र ! ऐसे श्रेष्ठ विद्वान् होकर भी तुम मातृदेवो भव, पितृदेवो भव का उपदेश कैसे भूल गये । 'पिता ही साक्षात् भगवान् हैं इत्यादि वाक्यों पर तुम्हारी श्रद्धा क्यों नहीं जागृत हो

रही । पद्म पुराण में कहा गया है- पिता की सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर लेने से तीनों लोक सन्तुष्ट हो जाते हैं । 'पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है और पिता ही परम तप है । पिता के प्रसन्न हो जाने पर सभी देवता अपने आप प्रसन्न हो जाते हैं । पुत्र ! इन सूक्तियों में तुम्हारा विश्वास सुदृढ़ क्यों नहीं होता । बेटा ! संन्यास धारण करके जिन सिद्धियों की तुम कामना कर रहे हो, वे सभी सिद्धियाँ पितृ सेवा से ही प्राप्त हो सकती हैं । कहा भी गया है-

"नास्ति तातसमो देवो नास्ति तातसमो गुरुः । नास्ति तातसमो बन्धुर्नास्ति तातसमः क्वचित् ।।"

पिता से बढ़कर कोई देवता नहीं है, पिता से बढ़कर कोई गुरु नहीं है । पिता से बढ़कर कोई बन्धु नहीं है कहीं भी पिता से बढ़कर कोई दूसरा नहीं है ।

विद्वान् होकर भी वत्स ! फिर क्यों इस प्रकार के कल्प वृक्षों की सुलभ सुरम्य एवं शीतल छाया को छोड़कर तुम दुर्गम जंगलों में भटकने की इच्छा कर रहे हो । अतः मैं कहती हूँ-मेरे प्यारे पुत्र ! वृद्ध माता पिता की अंकुरित आशालता को निराशा के तुषार से मत जलाओ । माँ की बात को मान जाओ ।

ऐसे करुणापूर्ण एवं आग्रहपूर्ण माँ के निवेदन का उत्तर श्रीरामानन्द क्या देते हैं सभी लोगों की दृष्टि उन्हीं के ऊपर केन्द्रित हो गई । उत्तर सुनने की प्रबल इच्छा उत्कण्ठा जाग्रत हो गई । किन्तु श्रीरामानन्द कुछ भी न कहकर केवल अश्रुपात करने लगे । इस प्रकार निरुत्तर तथा साश्रुनयन, नत मुख रामानन्द को देखकर श्रीपुण्यसदन बोले-

"**ऋणानुबन्धादपवर्गाऽनुलाभाऽनुष्ठानकालो नास्ति** ।-(अ. ४।१।५९)

बेटा ! तुम बुद्धिमान् हो ! यह सब कहने का आशय यह नहीं है कि हम संन्यास ग्रहण करने के विरोध में हैं । संन्यास के प्रति हमारी पूर्ण श्रद्धा है । जीवन का यह परम उत्कृष्ट चौथा आश्रम है । साक्षात् नारायण स्वरूप ही है । किन्तु संन्यास के अधिकार की सिद्धि के लिये पहने तीन आश्रमों का अनुपालन भी आवश्यक है तथा शास्त्रसम्मत है । आप जैसे पण्डिताग्रणी जनों को गृहस्थ वानप्रस्थादि आश्रमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिये । यही हमारे कहने का अभिप्राय है । कहा गया है- ब्राह्मण के जन्म

के साथ ही तीन ऋण भी उत्पन्न हुआ करते हैं । ब्रह्मचर्य से ऋषि ऋण, यज्ञ से देव ऋण, एवं पुत्रोत्पत्ति से पितृ ऋण मुक्त हुआ करता है । इस नियम के अनुसार आपने भी सम्यक् वेदाध्ययन एवं ब्रह्मचर्य पालन के द्वारा ऋषि ऋण से मुक्ति प्राप्त कर ली है । अब आपका यह द्वितीय आश्रम (गृहस्थ) में प्रवेश का समय है । अत: नियमानुसार घर चल कर विवाह करके गृहस्थ धर्मपूर्वक पुत्रोत्पत्ति करते हुये पितृ ऋण से भी मुक्ति प्राप्त कर लो । तदनन्तर वानप्रस्थ का पालन करने के बाद संन्यास का अधिकार प्राप्त कर नारायण स्वरूप बन जाओ । गृहस्थाश्रम के समय में सपत्नीक यज्ञ यागादि करने से देवऋण से मुक्ति मिल जायेगी । अत: विद्वान् द्वारा क्रमश: आश्रमों का सेवन करके गन्तव्य तक चलना चाहिए यही तात्पर्य है महर्षि वात्स्यायन ने न्याय भाष्य में कहा कि- ऋण के अनुबन्ध होने पर अपवर्ग का लाभ असम्भव है ।

तत:- **''ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेदयेत् ।**
अन्यथा कृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यध: ॥'' भगवताऽपि-

तीनों ऋणों से मुक्त होकर ही मन को मोक्ष में लगावे । बिना तीनों ऋणों से उऋण हुए मोक्ष मार्ग में मन लगाने से अध: पतन होता है ।

गीतायाम्-**''य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:'' ।**
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।'' (अ.१६।२३)

गीता में कहा गया है- जो शास्त्र विधि का परित्याग कर कोई भी कार्य करते हैं उन्हें सफलता सुख एवं परम गति प्राप्त नहीं होती ।

श्रुतावपि:- **''ब्रह्मचर्य समाप्यैव गृहीभवेत्-गृहीभूत्वा वनीभवेत्**
वनीभूत्वा प्रव्रजेत्'' (जाबाल श्रुति: ४)

जाबाल श्रुति कहती है- ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ बने तदनन्तर वन में निवास करे तब फिर संन्यास ग्रहण करे ।

इत्यादि श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणों के आदेशों को जानते हुये भी नितान्त विवेकशील तथा शास्त्र मर्मज्ञ होते हुये भी आप हठपूर्वक दुराग्रह क्यों कर रहे हैं ? सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने वाले आप जैसे अपने पुत्र से हम आशान्वित हैं कि हमारी वृद्धावस्था के कारण शिथिल शरीर बन्ध वाली स्थिति को देखकर दयार्द्र होकर हमारे अभीष्ट को पूर्ण करते हुये हमारा पुत्र

हमारे मनोरथों को पूर्ण करेगा । यह सोचकर अपनी विचार पद्धति में परिवर्तन कर हमें आप सन्तुष्ट करें ।

यह सुनकर प्रणामाञ्जलिबद्ध होकर श्रीरामानन्द अपने अभिप्राय को स्पष्ट रूप से प्रकट करना प्रारम्भ कर दिये साक्षात् जगज्जननी स्वरूपा श्रीमाताजी ! तीर्थ स्वरूप प्रातः स्मरणीय सर्वदा पूजनीय पितृचरण एवं श्रीगुरुचरण ! और अधिक क्या निवेदन करूँ क्योंकि मैं पुत्र और शिष्य के कर्त्तव्य एवं धर्म को भलीभाँति जानता हूँ । 'आज्ञागुरुणामविचारणीया यह जो आप सभी ने कहा और जो कुछ भी कहा वह सब मेरे कल्याण के ही लिये हैं विविध शास्त्र प्रमाणों के द्वारा पुत्र के कर्त्तव्य की जो शिक्षा मुझे दी गयी मैं उसका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ ।

यह भी अनुचित ही है कि पूज्य चरणों के सामने उनके कथन के पक्ष या विपक्ष में मैं अपना अभिप्राय प्रकाशित कर प्रत्युत्तर देते हुये एक धृष्टता कर रहा हूँ । फिर भी मैं अपनी अन्तः प्रेरणा से नितान्त विवश होकर शतशः नतमस्तक होकर साञ्जलि निवेदन करने की जो धृष्टता कर रहा हूँ, उसे मेरी बाल सुलभ चपलता मानकर क्षमा सिन्धु स्वरूप आप लोगों के द्वारा क्षमा कर दिया जाना चाहिए ।

सर्वप्रथम मातृचरणों में निवेदन है कि मैं गृहस्थ बनूँ या वानप्रस्थ । जिस किसी भी आश्रम या स्थान में रहूँगा । आपका होकर ही रहूँगा, किसी अन्य का नहीं । लोग यही कहेंगे-कि यह अमुक का पुत्र है अमुक गोत्रोत्पन्न है और अमुक स्थान का निवासी है । ठीक इसी प्रकार स्वीकार किये हुये आश्रम के अनुकूल आचरण करता हुआ संन्यासी होकर भी मैं इस रामानन्द नामक अपने शरीर से अपने पूज्यतमों की स्मृति को कभी स्वप्न में भी यावज्जीवन विस्मृत नहीं करूँगा यह प्रतिज्ञा करता हूँ । जानता हूँ कि माँ का हृदय अत्यन्त दयालु एवं मृदुल होता है । माँ तो ऐसी है कि किसी अन्य अपरिचित व्यक्ति की आँखों में एक बिन्दु अश्रु देखकर स्वयं द्रवित होकर अश्रुधारा बहाने लगती हैं । मैंने सुना है कि पाण्डवों की माता श्री कुन्ती ने किसी एक ब्राह्मणी के कष्ट को देखकर दयार्द्र होकर बकासुर राक्षस की क्षुधा दूर करने के लिये अपने पुत्र (भीम) को ही उसकी मुखाग्नि में हवन करने के लिये उद्यत हो गई उन्होंने आगे पीछे कुछ भी नहीं सोचा । मन में किसी प्रकार का प्रकम्पन नहीं हुआ, और विचारों की दृढ़ता में शिथिलता

नहीं आई । ऐसा पर दुःख कातर और करुणार्द्र मातृ हृदय हुआ करता है । जो दूसरों के कष्टों को दूर करने के लिये अपने पुत्र के विनाश की भी परवाह नहीं करता ।

अतः पूज्या माताजी ! मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आपको भी कुन्ती माता की तरह हो जाना चाहिये । उस समय तो एकमात्र वही ब्राह्मणी संकट से ग्रस्त थी, किन्तु आज तो इस सम्पूर्ण भारतवर्ष में सभी धार्मिक लोगों का जीवन ही म्लेच्छ सत्ताधारी राक्षसाधमों की क्षुधा की आग में भस्मीभूत हो रहा है । हमारे प्राण प्रिय वेद ग्रन्थ ही अपमानपूर्वक अग्नि में जलाये जा रहे हैं । रात दिन धर्म ग्रन्थों का होलिका दहन दिखाई पड़ता है । धार्मिक स्थान नष्ट भ्रष्ट किये जा रहे हैं । देव मन्दिरों को धूल में मिलाया जा रहा है । हमारी देव प्रतिमायें म्लेच्छों के भवनों की सीढ़ियों में खोदकर गाड़ी जा रही हैं । ईंटों के साथ देव मूर्तियाँ पायदानों पर लगाई जा रही हैं । विश्व कल्याणकारिणी हमारी गो मातायें उनकी तलवारों से काटी जा रही है । म्लेच्छ हत्यारों के द्वारा उनकी संस्कृति के पोषकों के द्वारा तथा अनुयायियों के द्वारा हमारे देश के उच्चतम आदर्श एवं गौरव के प्रतीक पातिव्रत्य धर्म को जड़ से उखाड़ कर समाप्त किया जा रहा है ।

क्या आप प्रतिदिन अपनी आँखों के सामने यह सब नहीं देख रही हैं ? इस प्रकार की विषम और विपरीत परिस्थिति के समय में यदि मैं केवल अपने कुल की रक्षा के लिये घर में चलकर गृहस्थ बन जाऊँ तो निश्चित ही लाखों भारतीय कुलों का दुष्ट दैत्यों के समान इन म्लेच्छों के द्वारा विनाश कर दिया जायेगा । उस समय क्या तुम्हारे नेत्रों के समक्ष यह रक्तरंजित होली नहीं होगी ?

क्या आप जैसी दया की सागर सहृदय वीरमाता अपने पास इस प्रकार के दुष्ट दानवों के दलन में समर्थ एवं सर्व शक्तिमान् पुत्र के होने पर भी अपनी आँखों के सामने इस प्रकार का उपद्रव देखकर भी उपेक्षा करती हुई बैठी रहे, कोई प्रतीकार न करे और न ही अपने पुत्र को प्रतीकार हेतु आज्ञा दे । क्या यही आपके गौरव अनुरूप है ।

माता जी ! आपकी मातृ ममता का प्रतिफल या प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने के लिये भारत के करोड़ों संत्रस्त जनों के नेत्रों से निरन्तर प्रवाहित होने

वाली अश्रुधारा को पोंछकर (उनका दुख दूर कर) मैं उनको स्वस्थ एवं भय मुक्त बनाना चाहता हूँ । आपका कुल दीपक होते हुये मैं करोड़ों परिवारों के बुझे हुये दीपकों को सदैव के लिये प्रकाश सम्पन्न बनाने हेतु उद्यत हूँ । क्या आपको यह सब अच्छा नहीं लग रहा है तो फिर तुम व्यर्थ में ही एक वीर बालक की वीरमाता होते हुये भी करोड़ों माताओं के हित सम्पादन में लगे हुये अपने पुत्र को रोककर कलंक अपने ऊपर रखना चाह रही हो ।

अतः प्रसन्न चित्त से सौहार्द्रपूर्ण भाव से उदारतापूर्वक मुझे अपने शतशः शुभाशीषों से युक्त कर आज्ञा दो, जिससे मैं सर्वदा और सर्वथा सब जगह अपने मनोरथ की पूर्ति प्राप्त कर सकूँ ।

अब मैं पूज्य पिताजी के चरणों में विनम्र निवेदन रूपी पुष्पाञ्जलि समर्पित करना चाहता हूँ । पूज्य पिताजी ! आपको कुछ भी अज्ञात नहीं है । श्रुति, स्मृति एवं धर्मशास्त्रों में जहाँ जहाँ दृढ़तापूर्वक किसी कर्म के विधान का उल्लेख आया है, वहाँ नितान्त अनिवार्य कार्य के लिये सामान्य धर्म का परित्याग निन्दनीय नहीं माना गया है । सामान्य शास्त्र से विशेष शास्त्र निश्चित रूप से बलवान होता है । जैसे सामान्य धर्म की विधि यह है-कि सत्यं ब्रूयात् 'नाऽनृतं वदेत्' सत्य बोलना चाहिये असत्य नहीं । किन्तु जहाँ गोवध करने वालों से किसी धेनु की रक्षा करने का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ सत्य का परित्याग भी करना पड़ता है । मिथ्या भाषण कर के भी गोरक्षा करना महान् धर्म है । वहाँ झूँठ बोलना निन्दनीय नहीं है । श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

स्त्रियों से, मजाक में, विवाह सम्बन्ध कराने में, आजीविका के विषय में, प्राणों की संकटापन्न स्थिति में तथा गाय एवं ब्राह्मण की जहाँ हिंसा की स्थिति हो वहाँ झूठ बोलना निन्दनीय नहीं है ।

यहाँ पर सामान्य सत्य भाषण से गो प्राण रक्षण रूपी धर्म विशेष बलिष्ठ है । इसलिये ऐसा ही व्यवहार उचित है । जहाँ विधि का उल्लेख है वहीं परमावश्यक कार्य आ जाने पर निषेध भी विहित है । जहाँ आचार परम्परा का सर्वथा लोप हो रहा हो वहाँ किसी प्रकार से परम्परा की रक्षा के लिये उसके पालन का प्रकार भी बताया गया है । जैसे 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत्' प्रातः 'सायंमग्निहोत्रं जुहुयात्' इस प्रकार सन्ध्यावन्दन,

अग्निहोत्रादि नियमित रूप से एवं निश्चित समय में अवश्य करना चाहिये, यह नियम है किन्तु यात्रादि के समय मार्ग में यदि प्रातः इनका सम्पन्न करना सम्भव नहीं हो, तो सायंकाल में भी किया जा सकता है । यदि सायंकाल सम्भव न हो तो कर्म लोप न हो इसलिये प्रातः काल ही दोनों कार्य किये जा सकते हैं । उसी प्रकार जाबालि श्रुति में कहा गया है- ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् ततो वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ तदनन्तर वानप्रस्थ और अन्त में संन्यास ग्रहण करना चाहिये । उसके बाद यह भी वहीं पर लिखा है-यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् । यदि ऐसा न करना हो तो सीधे ब्रह्मचर्य के बाद भी संन्यास ग्रहण किया जा सकता है ।

'यदा विरजेत् तदैव प्रव्रजेत्' जब वैराग्य हो जावे तभी संन्यास ले लेवे यह विधान है । अतः इसमें शास्त्रोक्त कुछ भी विरोध नहीं है ।

भगवान् ने गीता में कहा है-

''किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।'' इति ।

क्या कर्म है क्या अकर्म है- विद्वान् भी इसमें चक्कर में पड़ जाते हैं ।

अतः कार्य और अकार्य कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य सामान्य और विशेष इनका निर्णय करके ही कोई कार्य करना चाहिये । इनके विपरीत दोष एवं पश्चात्ताप दोनों ही होते हैं । महाकवि कालिदास ने कहा है- तुच्छ वस्तु के लिये महत्त्वपूर्ण वस्तु का परित्याग करने वाले राजा दिलीप ! तुम मुझे मूर्ख मालूम हो रहे हो ।

यद्यप्यस्ति ''**अनधीत्य द्विजोवेदाननुत्पाद्य तथाऽऽत्मजान् ।**
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ।'' (मनुः ६।३७)

यद्यपि-मनुस्मृति कहती है-

ब्राह्मण वेदों को बिना पढ़े, पुत्र को बिना उत्पन्न किये और यज्ञों के विधान के बिना यदि मोक्ष चाहता है-तो उसका पतन होता है ।

तैत्तिरीय में भी कहा है- कि सन्तान परम्परा का उच्छेद नहीं करना चाहिए ।

बोधायन सूत्र भी लिखता है-गृहस्थ धर्म सभी धर्मों का परिपालक होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है ।

किन्तु यह सब तब तक के लिये है जब तक मनुष्य को कर्मों के फल की प्राप्ति हेतु लोभ रहे । और जब यह लोभ लिप्सा समाप्त हो जाय और कर्मफल की आकांक्षा ही न रहे तब यह मर्यादा विधि लागू नहीं होती ।

उक्तञ्च गीतायाम् **''असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्माच्छिन्नसंशयः ।**
''नैष्कर्म्यं सिद्धिं परमां संन्यासेनाऽधिगच्छति ॥''
(अ० १८ श्लो० ४९)

गीता में कहा गया है-

जिसकी बुद्धि सर्वत्र आसक्ति रहित है, जिसने शरीर को वश में कर रखा है जो स्पृहा रहित है वह पुरुष सांख्ययोग के द्वारा नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त हो जाता है ।

किञ्च तत्रैवोक्तम् **'अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।**
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।''(गीता०१२।११)

'अथैतदप्यशक्तोऽसि' में यह कह रहे हैं कि यदि मेरे लिये ही सब कर्मों को करने में अशक्त हो तो सम्पूर्ण कर्मों के फलत्याग रूपी योग को कर लो ।

इत्यादि विमर्श से यह निश्चित होता है कि अन्तः प्रेरणा के बिना अनिच्छा से हठपूर्वक बिना श्रद्धा के जो कुछ भी किया जाता है, वह सब निष्फल ही होता है ।

उक्तञ्च- **''अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपस्तप्तं कृतञ्च यत् ।**
असदित्युच्यते पार्थ न तत प्रेत्य, नो इह ॥''

हे अर्जुन ! बिना श्रद्धा के किया गया हवन, दान, तप और सभी विहित कर्म असत् हैं उनसे न तो यहाँ ही कोई लाभ है और नहीं परलोक में ।

''चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥'' इति (गीताः १८।५७)

आगे भी भगवान् कृष्ण ने कहा है-

अर्थात् चित्त से सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके, मेरे परायण होकर तथा समता का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें, चित्तवाला हो जा । अर्थात् मेरे साथ इस अटल सम्बन्ध स्थापित करले ।

इस कथन के अनुरूप सर्वदा सच्चिदानन्द परब्रह्म भगवान् श्रीराम में पूर्णरूपेण अपना मन निवेशित कर अगणित आनन्दमय उनकी शरण में उनके चरण कमलों में भ्रमर बनकर यदि निवास करने की इच्छा है तो लौकिक कर्त्तव्यों में प्रवृत्ति की कोई अपेक्षा नहीं रहती, और न ही कर्म का कोई प्रतिबन्ध ही होता । अतः दृढ़ संकल्पवान् व्यक्ति अपने लक्ष्य रूपी मार्ग से विचलित न हो यह भी नीति है । क्योंकि कर्म बन्धन में जकड़ा हुआ व्यक्ति कुछ भी करने में समर्थ नहीं हुआ करता ।

उक्तञ्च- **''प्रवृत्त्यनुबन्धान्नास्त्यपवर्गः ।''** (वात्स्यायन भाष्ये)

यच्च- **''ऋणक्लेश प्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ।''** किञ्च-

प्रवृत्ति मार्ग के बन्धन वालों का मोक्ष नहीं होता क्योंकि प्रवृत्ति मार्ग में ऋणों का बोझ बना रहता है । जनकादि कर्मयोगियों ने गृहस्थधर्मोचित कर्मों के द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं । इत्यादि वाक्यों से गृहस्थ धर्म के कर्मों के पालन द्वारा जनक आदि को सिद्धि की प्राप्ति बतलायी गयी है । वह तो कर्म के द्वारा अपने अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा संसिद्धि बतायी गयी है । अन्तःकरण की शुद्धि होने पर भगवत् ज्ञान की प्राप्ति स्वतः हो जाती है । यदि भगवत् ज्ञान अन्य प्रकार से हो तो कर्म चक्र की भ्रमी में पड़ने का सन्देह नहीं होता ।

तदा तु- **''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षमिष्यामि मा शुच ॥'' (गीता १८।६६)

भगवत् ज्ञान से कर्म चक्र में पड़कर भी पतन नहीं हो सकता । सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का यही तात्पर्य है कि सब कुछ छोड़कर मात्र मेरी शरण में आ जाओ मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा ।

इस प्रकार स्वयं भगवान् ने राजमार्ग का प्रदर्शन किया है अतः हे पूज्य चरण ! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप सब मुझे क्षमा करें । गृहस्थाश्रम के भार को वहन करने में सर्वथा असमर्थ एवं निर्बल अपने पुत्र को मानकर उदासीन मुझको हठपूर्वक या बलपूर्वक उस कार्य में (गृहस्थाश्रम के संचालन में) नियुक्त करके आप अपने मन में कल्पित किसी भी अभिलाषा को सिद्ध नहीं कर सकेंगे ।

बीच में ही श्रीरामानन्द के पिता श्री पुण्यसदन शीघ्र ही बोल पड़े- बेटा ! जिस संन्यास धर्म को तुम इतना सहज सरल मान रहे हो वह वैसा नहीं है । वह अत्यन्त दुःख साध्य है । वहाँ भी यम, नियम, आसन,प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि इन आठ योग के अंगों का सुदृढ़ अभ्यास अपेक्षित है । अन्यथा की स्थिति में संन्यासी को पग पग पर पतन की आशंका बनी रहती है । और वैसा अभ्यास कर पाने में चित्त का निरोध अत्यधिक कष्ट साध्य है ।

उक्तञ्च "**अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।**
अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥" कहा गया है-

चित्त का निग्रह करना, समुद्रपान से, सुमेरु पर्वत के उन्मूलन से तथा अग्निपान से भी अधिक कठिन हैं ।

गीतायामपि- **चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।**
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ इति ।

गीता में भी कहा गया है- हे कृष्ण ! मन चंचल है व्यथित कर एवं बड़ा बलवान् है अतः इसका विरोध करना वायु के समान अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ ।

श्रीरामानन्द विनय पूर्वक बोले पिताजी ! यह सत्य है । किन्तु यह नियम केवल उनके लिये है जो सर्वथा अशक्त हैं भगवान् ने अपनी प्राप्ति का सरल उपाय ऐसे लोगों के लिये निर्दिष्ट किया है जो तनिक भी पुरुषार्थ नहीं कर सकते उन्हीं के लिये कहा गया है-

"**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।**
निवसिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥" (गीता १२।८)

भगवान् कहते हैं कि अपने मन को मुझमें लगाओ अपनी बुद्धि भी मुझमें ही लगाओ ऐसा करने से निश्चित ही तू मुझमें ही निवास करेगा ।

इस प्रकार भगवान् में ही निवास करना ब्रह्म सम्पन्नता है यही मोक्ष के इच्छुक जन चाहते हैं । भगवान् की यह स्वयं की प्रतिज्ञा है- नित्य निरन्तर एकमात्र मेरे में ही अपनी चित्तवृत्ति लगाने वाले भक्तों का (अनन्याश्रयी भक्तों का) योग क्षेम मैं वहन करता हूँ । अतः शुभाशुभ समस्त

कर्मों को और सब कुछ भगवान के ऊपर छोड़कर भक्त निश्चिन्त होकर प्राणी सन्यास ग्रहण करे ।

मैं यह भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं उस प्रकार का संन्यास नहीं ग्रहण करूँगा जैसा कि कुछ पाखण्डी लोग ग्रहण किया करते हैं । 'जो धन एवं भोजन के अर्जन में ही लगे रहते हैं जो पाखण्ड करते हैं छद्मवेषी हैं । ज्ञानियों के समान स्वरूप धारण कर संसार में स्वयं घूमते हैं और लोगों को भी घुमाते (भ्रम में डालते) हैं । इस प्रकार पृथ्वी के लिये मैं भार स्वरूप बनकर भ्रमण नहीं करूँगा । वरन् संन्यासियों की भाँति भगवान् में ही सब कुछ न्यस्त करके निःस्वार्थ भाव से सभी के उद्धार में रत संसार में चारों और फैले हुये प्रचारित किये गये पाखण्डवाद को जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करूँगा । भारत के कोने कोने में जो म्लेच्छों का राज्य फैला हुआ है और जो म्लेच्छ भारतीयों को प्रलोभन देकर उनके हृदय में अपना स्थान बनाये हुये हैं और जिन्होंने उनकी भारतीय चेतना को विनष्ट कर दिया है । सनातन धर्म को उखाड़ फेंका है दुष्कर्मों का प्रसार कर रखा है, यज्ञ संस्कृति को समूल विनष्ट करने में तुले हुये हैं, उनको विनष्ट करके पुनः अपनी शाश्वत, परम्परागत, सनातन एवं प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पद्धति को प्रत्येक ग्राम ग्राम में प्रतिनगर में प्रचारित करना चाहूँगा, और इस प्रकार आप की कीर्तिलता को विस्तारित करूँगा । सनातन धर्म की पताका को फहराऊँगा । इस कार्य में निरत मैं भले ही आपके पास न रहूँ, परन्तु जहाँ कहीं भी भारत में रहता हुआ घूमता हुआ गृहस्थधर्म से विमुख होकर भी सम्पूर्ण इस भास्वर भारत में लुप्तप्राय भारतीय संस्कृति के उद्धार का कार्य करता हुआ क्या मैं पितृलोक में स्थित अपने पितृगण को सन्तुष्ट नहीं कर सकूँगा ? अर्थात् अवश्य ही मेरे पितृदेव मुझसे सन्तुष्ट रहेंगे । यवनों के प्रलोभन में पड़कर अपने सनातन धर्म कर्म से विमुख हो जाने वाले एवं देव, गुरु, ब्राह्मण एवं पितृदेवों के कार्यों से विमुख हो जाने वाले लोगों को फिर से अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त करके पूर्ववत् पितरों की लुप्त पिण्डोदक क्रिया को प्रारम्भ करा कर क्या मैं उनके आशीष ग्रहण करने का पुण्य नहीं प्राप्त कर सकूँगा । जब भारतीय संस्कृति को अपनाकर उन पितरों के कुटुम्बी पुत्र एवं पौत्रादि के द्वारा किये गये श्राद्ध एवं तर्पण से उनके पितर तृप्त होंगे, तो क्या प्रतिवर्ष मुझे इसके लिये अपना आशीर्वाद नहीं प्रदान करेंगे ? तब पुनः अपने पुत्र

पौत्रादि के भारतीय संस्कृति ग्रहण कर लेने पर सभी के पितृदेव उनके श्रद्धा भाजन बनेंगे न कि केवल रामानन्द के ही। यह पूरा संसार शतशत धन्यवादों तथा प्रशस्तियों के द्वारा आपको सम्मानित करे और अपने हार्दिक श्रद्धा के सुमनों द्वारा आपकी प्रतिदिन पूजा करे तथा इस सबका गौरव मुझे मिले क्या आप ऐसा नहीं चाहते ? क्या मुझको जगद्गुरु के पद पर सम्पूजित होकर तथा उपदेश देते हुये देखकर आपको प्रसन्नता नहीं होगी।

इसलिये मैं प्रार्थना करता हूँ कि करुणामयी मेरी माताश्री एवं तीर्थ स्वरूप पिता श्री और मेरे पूज्य गुरुचरण मेरे ऊपर दया कर अपने शुभाशीषों से मुझे सफल मनोरथ बनायें। इतना निवदेन करने के बाद श्रीरामानन्द ने अपनी वाणी को विराम दे दिया।

इसके बाद अपने पुत्र की सुदृढ़ प्रतिज्ञा को सुनकर पुण्य सदन को सहसा श्रीरामानन्द की उत्पत्ति के समय का वह सन्दर्भ याद आ गया जब तपस्या के पश्चात् दया के सागर भगवान श्रीरामचन्द्र जी वरदान देने के लिये प्रकट हुये और अपने अवतरण से सम्बन्धित घोषणा इन्हीं पुण्यसदन के घर में कर दी थी। फिर पुण्यसदन सोचने लगे। अरे ! यदि वही प्रभु श्रीराम ही पुत्र के रूप में अवतीर्ण हुये हैं तो निश्चित ही वे अपने अवतार के प्रयोजन को सम्पन्न करेंगे। सम्पूर्ण भारत में फैली हुई यवन संस्कृति को और म्लेच्छों के शासन को समाप्त करके ही रहेंगे। अब मुझे भी इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का हठ नहीं करना चाहिये। ऐसा सोचकर अपनी अनुमति की सूचक तदनुकूल, वाणी से आशीर्वाद के रूप में 'जैसी तुम्हारी इच्छा' कहकर पुण्यसदन मौन हो गये।

श्रीसुशीला माता ने भी चुप रहकर नेत्रों के संकेत से ही उनकी (पुण्यसदन की) बात का समर्थन किया। श्रीराघवानन्दाचार्य ने भी 'तथास्तु' (ऐसा ही हो) कहकर आश्रम निवासी सभी जनों को अपने-अपने नित्य नैमितिक कार्यकलाप पूर्ण करने की आज्ञा प्रदान की।

बीसवाँ परिच्छेद

''श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमा वृणीते ॥

(कठ० २।२।२)

दो सुख है संसार के श्रेय प्रेय कहलाये ।
ज्ञानी श्रेय वरण करे मूढ प्रेय लपटाये ॥

विश्व का यह नियम है कि प्रत्येक मनुष्य के समक्ष भगवान की कृपा से श्रेय (अलौकिक आनन्द) तथा प्रेय (लौकिक प्रेम) दोनों को ही अवसर उपयोग हेतु आया करते हैं । जो विद्वान् होते हैं, वे श्रेय अर्थात् परमानन्दमय कल्याण के ही इच्छुक होते हैं । इसके विपरीत मूढ जन लौकिक सुख को ही महत्त्व प्रदान करते हैं । इसी नियम के अनुसार श्रीरामानन्द ने श्रेय को ही स्वीकार किया ।

श्रीरामानन्द के संन्यास के विषय में सभी सहमत थे । आगामी फाल्गुन मास में शुभ मुहूर्त मे संन्यास दीक्षा होगी यह वृतान्त सब जगह प्रसारित हो गया । उस समय के लिये देवपूजा में निपुण कार्य कर्त्ताओं ने श्रीपंचगंगातट के निकटवर्ती सुविशाल क्षेत्र में अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे कपड़ों से सुसज्जित एक मनोहर पटमण्डप का निर्माण किया, जिसमें चारों ओर सुन्दर पुष्प गुच्छ लटक रहे थे और रेशमी वस्त्र की सुन्दर पताकायें सुशोभित थीं । उसके नीचे अनेक प्रकार के रत्नों से युक्त चाँदी सोने तथा बहुमूल्य मणियों से सुशोभित अतीव सुखदायक सिंहासन बनाया गया था जो अपनी ज्योति से सम्पूर्ण मण्डप को प्रकाशित कर रहा था उच्च प्रदेश में स्थित उस सिंहासन के चारों ओर मुक्तामणियों की उज्ज्वल मालायें लटक रहीं थीं । उसी सिंहासन का मध्यभाग कोमल रूई से गर्भित मखमल के राजसी वस्त्रोंसे सुशोभित था । उसमें चाँदी और सोने के तन्तुओं से अनेक चित्र चित्रित थे, जिससे हस्तकला कौशल का परिचय प्राप्त हो रहा था । अनेकों लताओं, वल्लरियों में झूलते हुये पुष्प गुच्छ शोभा बढ़ा रहे थे । अनेक सुखद तकियों से वह सिंहासन सुशोभित था । उसी के समीप (बगल

में) चाँदी से निर्मित सर्व विध अलंकृत एक पीठ (बैठने की चौकी) भी थी । अनेक प्रकार के हरे, पीले, नीले, लाल एवं गुलाबी रंगें के सुन्दर बिछौने भूमि में बिछे हुये थे ।

ऊपरी भाग में सोने और चाँदी के तन्तुओं से निर्मित बहुत से फूलों और पल्लवों का अनुकरण करने वाले रंग बिरंगी कलाकृतियों का निर्माण था । मण्डप के चारों ओर जगह-जगह पर कदली स्तम्भों के ऊपर नवीन किस लयों तथा पुष्प गुच्छों से सुशोभित, वस्त्रों से बनी हुई पताकाओं से युक्त मालाओं से मण्डित, अनेक प्रकार के लाल पीले सुनहरे गुलाब पुष्पों से परिवेष्टित सुधर्मा सभा का अनुकरण करने वाला एक सुसज्जित सभा मण्डप बनाया गया था । वहीं पर दीक्षा शाला, यज्ञ शाला, सभा भवन, दर्शक, दीर्घा, अतिथि प्रकोष्ठ, महिला निवास, सम्मानित सदस्यों हेतु विश्राम गृह, विद्वानों के अनुरूप पीठासन सज्जनों महापुरुषों, साधुओं, संन्यासियों, योगियों, आचार्यो वैदिकों और कर्मकाण्डी पण्डितों की व्यवस्था सम्यक्रूपेण की गयी थी । बगल में दूसरी पाठशालाओं से आये हुये छात्रों के लिये तथा अपने आश्रम के छात्रों के लिये अलग-अलग यथा योग्य सुव्यवस्था सम्पन्न की गई थी ।

प्रत्येक आवास में यथायोग्य सामग्री संगृहीत थी । जैसे-हवन कुण्ड के समीप यज्ञशाला में घी, तिल, यव, चावल, शक्कर, दाख, आँवला, सरसों इन्द्रयन, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, अष्टागन्ध, हल्दी एवं विविध सुरभित वस्तुएँ-ताम्बूल, लवंग, इलायची, कर्पूर, जायपत्री, बादाम, अखरोट, नारियल, आदि सामग्रियाँ उपलब्ध थीं । ऋतु में उत्पन्न होने वाले अनेक पुष्पों का भी संकलन था । सभी उपलब्ध ऋतु फलों दूध, शहद, खीर आदि अनेक प्रकार के दुग्धादि से निर्मित, खोया, कलाकन्द, पेठा आदि की व्यवस्था की गयी थी ।

मुहूर्त्त के अवसर में दूर देशों से आये हुये दर्शकों की महान् भीड़ एकत्रित हो गयी । बहुत से बाल, वृद्ध, युवा, नागरिक, ग्रामीण तथा स्त्री पुरुष एकत्रित हुये थे । मेरे मत में महापुरुष की किसी अलौकिक सिद्धि अथवा प्रक्रिया को देखने के लिये भारतीय ही नहीं वरन् भूमण्डल में स्थित सम्पूर्ण देवता, तीर्थ, नद, नदियाँ, सभी पवित्र पर्वत अनेक वृक्ष तथा नागादि अनेक रूप धारण कर शुभ एवं पुण्यशाली इस कर्म की दर्शनाभिलाषा से एकत्रित हुये थे । कर्मचारियों ने समागत सम्पूर्ण अतिथियों को उनकी योग्यता

एवं आयु, के अनुरूप यथा स्थान यथा क्रम निवास प्रदान कर प्राप्त सामग्रियों से उनका सत्कार करते हुये सन्तुष्ट किया ।

शुभ मुहूर्त उपस्थित होने पर आचार्य वर्य्य श्रीराघवानन्दाचार्य अपने शिष्य श्रीरामानन्द के साथ दीक्षा सत्र प्रारम्भ करने हेतु अपने श्रीचरणों से दीक्षा मंडप को सुशोभित किया । उसी समय शीलवती सुशीला देवी के साथ प्रसन्न मुद्रा में श्रीपुण्यसदन भी वहाँ उपस्थित हुये । तत्काल चारों ओर से श्रीराघवानन्दाचार्य की जय एवं श्रीरामानन्द की जय के नारे गूँज उठे । नागरिकों की सामूहिक जय ध्वनि से सम्पूर्ण सभा दीक्षा मण्डप ही जय ध्वनि से प्रपूरित हो उठा । श्रीभागीरथी के पंचगंगातट को भी मानों जल में चंचल तरंगों के बहाने आनन्द से तरंगायित होते हुये और शुभ समय की सूचना देते हुये लोगों ने देखा ।

उस समय समागत वेदपाठी ब्राह्मण विद्वानों द्वारा चारों वेद संहिताओं का मंगलाचरण हो रहा था । यज्ञारम्भ की विधि द्वारा याज्ञिक एवं विविध वैदिक शाखाओं के अध्येता वैदिक ब्रह्मचारी शान्ति पाठ कर रहे थे । जिससे वह सम्पूर्ण दीक्षा मण्डप मन्त्रमय, काव्यमय, स्तवनमय यजनमय तथा भजनमय होता हुआ पवित्रतम बन गया था । समागत महिलाओं के द्वारा सैकड़ों मांगलिक गीतों से वह मण्डप मंगलमय हो उठा ।

विधि विधान के अनुसार श्रीगुरु की पूजा के पश्चात् दीक्षा प्रकरण प्रारम्भ हुआ । आरम्भ के अवसर पर श्रीराघवानन्दाचार्य ने सभी को सम्बोधित करते हुये कहा- सम्मानित सन्त एवं महापुरुष ! आदरणीय विद्वज्जन ! सामान्यजन ! एवं सभ्य नागरिक महानुभाव ! इस मंगलमय महोत्सव का हम सहर्ष अभिनन्दन करते हैं । अत महान् विद्वान् श्रीरामानन्द ब्रह्मचारी का संन्यास ग्रहण दीक्षा समारोह प्रारम्भ होने जा रहा है । वह संन्यास किस प्रकार का है ? उसका क्या स्वरूप है । संन्यास क्यों ग्रहण करना चाहिये ? उसका महत्त्व किस प्रकार का है ? संन्यास का अधिकारी कौन है ? अधिकारी को कैसा होना चाहिये ? यह सब जिज्ञासा का विषय है । यह सनातन है या वैदिक है । इस प्रकार की जिज्ञासा सबके हृदय में उत्पन्न होती है । इसलिये इस विषय को लेकर आदरणीय विज्ञानियों के मनोरंजन के लिये जिनके मन में प्रश्न एवं कुतूहल हैं उनके समाधान के लिये जिज्ञासुओं की ज्ञान पिपासा की शान्ति के लिये इस विषय का स्पष्ट रूप

से मैं विवेचन करना चाहता हूँ । सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना है कि दीक्षा क्या है ? इससे क्या लाभ है ? कौन इसका अधिकारी है ? आप सभी सावधानीपूर्वक शान्तचित्त श्रवण करें ।

प्रमाणञ्चात्र- **''दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम् ।**
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ।

(विष्णुयामले०)

दिव्यज्ञान को देति है , करे पाप का अन्त ।
याही सो दीक्षा कहैं वेद तत्वबित् सन्त ॥

दिव्य ज्ञान की प्राप्ति और पापरूपी कीचड़ को धोने के लिए मुनिजनों के द्वारा दीक्षा संस्कार का आदर किया गया है इसका लाभ सर्वश्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति ।

रुद्रयामलतन्त्र में भी कहा गया है कि जो तीन प्रकार के पापों (मन, वाणी, कर्मजन्य) को समाप्त कर भगवान् के साथ तादात्म्य प्रदान करती है उसे दीक्षा कहते हैं । और भी-जिसके ज्ञान की प्राप्ति होने पर मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर लेता है । और भी दीक्षित ब्राह्मण अमृतमय ब्रह्मलोक को, क्षत्रिय इन्द्रलोक को वैश्य प्रजापति लोक को और दीक्षा के प्रभाव से शुद्र गन्धर्व लोक को प्राप्त होता है । और भी- दीक्षा के बिना मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती है अज्ञान से अथवा असावधानी से यदि दीक्षा की उपेक्षा कर दिया जाय तो इस संसार में उसका कोई रक्षक नहीं होता है कहा भी है-

'अनीश्वरस्य मर्त्यस्य नास्ति त्राता यथा भुवि ।
तथा दीक्षा विहीनस्य नेह स्वामी परत्र च ॥''

(इति दत्तात्रेययामले)

जैसे-बिना ईश्वर के मनुष्य की रक्षा करने वाला इस विश्व में कोई नहीं है उसी प्रकार दीक्षा विहीन व्यक्ति का इस लोक तथा परलोक में कोई रक्षक नहीं है ।

इसी प्रकार मन्त्र मुक्तावली में भी कहा गया है कि दीक्षा से युक्त मनुष्यों को ही जप, देवपूजन आदि कर्म करना चाहिए । भगवान् शिव ने पार्वती जी से कहा कि दीक्षा से रहित मनुष्य के द्वारा किये गये सभी कर्म निष्फल होते हैं । और उन्हें मोक्ष भी नहीं मिलता है ।

तथाहि- **"अदीक्षितस्य वामोरु कृतं सर्वं निरर्थकम् ।**
पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाहीनो मृतो नरः ॥" पुनश्चोक्तम्-
"देवि ! दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥" (इति तन्त्रसारे)

देवि ! दीक्षाविहीन मनुष्य को सिद्धि और सद्गति नहीं प्राप्त होती । इसलिये पूर्ण प्रयत्न के साथ गुरु द्वारा दीक्षित होना चाहिये ।

भगवान् शंकर ने पार्वती जी से कहा है-

बिना दीक्षा वाले व्यक्ति के द्वारा जो भी धार्मिक कार्य किये जाते हैं । वे सब निष्फल हो जाते हैं । उसको मरणानन्तर पशु योनि प्राप्त होती है ।

वैष्णवतन्त्रेऽपि- **"यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः ।**
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥"
"रसेन्द्रेण यथाविद्धमयः सुवर्णतां व्रजेत् ।"
दीक्षाविद्धः तथैवात्मा शिवत्वं लभते प्रिये !
(अयः=लौहः) (कुलार्णवतन्त्रे)

तथा च- **"दीक्षाऽग्निदग्धकर्माऽसौ पाशविच्छिन्नबन्धनः ।**
कर्मबन्धो मृतस्तस्य निर्जीवश्च शिवोभवेत् ॥"

वैष्णव तन्त्र में भी जैसे विविध वनस्पतियों के रसके संयोग से कांसा सोना बन जाता है उसी प्रकार दीक्षा के विधान से मनुष्यों में द्विजत्व आ जाता है पुनः कुलार्णव तन्त्र में कहा गया है हे प्रिये ! पारस के संयोग से जैसे लोहा सोना हो जाता है उसी प्रकार दीक्षा से युक्त व्यक्ति शिवत्व को प्राप्त कर लेता है । और भी कहा गया है कि दीक्षा रूपी अग्नि से भस्म किये गये कर्मों वाला यह जीव समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त होकर दीक्षा के बल पर शिवत्व को प्राप्त कर लेता है ।

मन्त्रशब्दार्थः- **"मननाद् विश्वविज्ञानम् त्राणं संसारबन्धनात् ।**
मेरुतन्त्रे- **यतः करोति संसिद्धिं, "मन्त्र" इत्युच्यते ततः ।**

अतः दीक्षा अत्यावश्यक है इसके प्रमाण स्वरूप शास्त्र में अनेक वचन उपलब्ध होते हैं । विज्ञ जनों के लिये और अधिक क्या कहा जाय । दीक्षा नाम मन्त्र प्रदानम्' दीक्षा का अर्थ है मन्त्र देना । मन्त्र शब्द का अर्थ है

मननाद् विश्वविज्ञानम् मन् का अर्थ सम्पूर्ण ज्ञान एवं विज्ञान है तथा त्र का अर्थ है-त्राणं संसार बन्धनात् संसार बन्धन से मुक्ति । मेरुतन्त्र में कहा गया है-यत: करोति संसिद्धिम् मन्त्र इत्युच्यते तत: । जिससे आध्यात्मिक सफलता या सिद्धि प्राप्त हो वह मन्त्र है ।

इसमें प्रमाण है-विष्णु यामल ग्रन्थ

मनन से ज्ञान और सांसारिक बन्धन से रक्षा होती है । अत: मन्त्र को दीक्षा के द्वारा ग्रहण करने पर सर्वसिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं ।

''मन्त्रः सर्वेश्वरः साक्षान्मन्त्र एव महौषधम् ।
न हि मन्त्रात् परः कश्चित् सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥''

जैसाकि मेरुतन्त्र में कहा गया है कि मन्त्र साक्षात् सर्वेश्वर है । मन्त्र ही महान् औषधि है मन्त्र से बढ़कर सभी प्रकार की सिद्धि देने वाला कोई नहीं है । मन्त्र कई प्रकार के हैं-सिद्ध, साध्य एवं सुसिद्ध और अरि (शत्रु) नामक मन्त्रों में, दीक्षा लेने वाले व्यक्ति के नाम से कौन सा मन्त्र किसको दिया जाय इसका निर्णय किया जाता है । अरिमन्त्र त्याज्य है क्योंकि यह प्राण हारक होता है । तन्त्रागम में कहा गया है-

उक्तञ्च-तन्त्रागमे- **''सिद्धः सिद्ध्यति कालेन, साध्यः सिद्ध्यति वा न वा ।**
सुसिद्धः स्मरणादेव, अरिः साधकघातकः ।''

सिद्ध मंत्र एक निश्चित समय पर ही सिद्ध हुआ करता है । साध्य मन्त्र सिद्ध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता सुसिद्ध मन्त्र स्मरण मात्र से ही सिद्ध हो जाता है किन्तु अरिमन्त्र साधक के लिये घातक माना गया है । किन्तु भगवान् के नाम रूपी मन्त्रों के विषय में यह नियम नहीं है । भगवन्नाम तो सदैव एवं सभी के लिये कल्याणप्रद तथा मोक्षदायक हुआ करते हैं । मैथिली महोपनिषद् में लिखा है-

श्रीरामजी के सभी मन्त्र सुखप्रद शुभदायक कल्याण एवं धन प्रदायक हैं । भगवान् के नाम का एक अक्षर भी उच्चरित होने पर सैकड़ों जन्मों के अर्जित महापातकों को भी नष्ट कर देता है । किन्तु उन सबमें षडक्षर मन्त्र सर्वोत्कृष्ट, शीघ्रफल प्रदायक तथा सभी अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाला है ।

किञ्च- **''षडक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात् सर्वाऽघौघनिवारकः ।**
मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः ।'' (मत्स्यपुराणे०)

मत्स्य पुराण में कहा गया है कि समस्त मन्त्रों में सर्वोत्त मन्त्र षडक्षर श्रीराममन्त्र है यह सभी पापों का नाश करने वाला है । इसीलिए इसे मन्त्रराज भी कहते हैं । क्योंकि षडक्षर मन्त्र भगवान् श्री राम का तारक ब्रह्म कहा गया है । तारक का अर्थ है-गर्भ, जन्म जरा (बुढ़ापा) मरण, संसार तथा महानभय से इन छः दुखों से जो तार देता है । छुटकारा दिला देता है । वह है 'षडक्षरम् तारकम्' । ऐसा रामोत्तरतापिनी उपनिषद में वर्णन है और इसका महत्त्व भी इस प्रकार है-

जो व्यक्ति इस प्रकार के भगवान् श्रीरामचन्द्र के मन्त्रराज को प्रतिदिन जपता है अध्ययन करता है, उसे वायु, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पवित्र कर देते हैं । उसका परिचय सभी देवताओं से हो जाता है ।

श्रीनारदपञ्चरात्रे,- **''श्रीरामेति परोमन्त्रस्तदेव परमंपदम् ।**
हिरण्यगर्भ संहितायाम्:- **तदेव तारकं विद्धि जन्ममृत्युभयाऽपहम् ॥''**

श्री नारद पंचरात्र में लिखा है- श्रीराम नाम ही सबसे बड़ा मन्त्र है, वहीं परम पद है जन्म मृत्यु एवं भय को दूर करने वाला वहीं तारक मंत्र है ।

इस प्रकार श्रीराम नाम की सर्वश्रेष्ठता एवं सुलभता का प्रतिपादक करने के पश्चात् दीक्षा लेने वाले के सम्बन्ध में भी संस्कार के लिये कुछ आवश्यक नियम बतलाये गये हैं-जैसे बीज बोने के लिये भूमि शोधन हल से जुताई खाद डालना आदि कार्य पहले किये जाते हैं तत्पश्चात् बोने का कार्य होता है उसी प्रकार दीक्षार्थी की भी पञ्च शुद्धियों के पश्चात् मन्त्र प्रदान किया जाता है-

उक्तञ्चः- **''तापं पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो माला तथैव च ।,**
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्त्यहेतवः ।'' (वैष्णव तिलक संहिता)

वैष्णव तिलक संहिता में लिखा है-

तप्तमुद्रा, ऊर्ध्वपुण्ड्र, नाम, मन्त्र माला (कंठी) ये पाँच संस्कार है इनका हारीति संहिता में वर्जन है इसलिये धर्म की अभिलाषा वालों को तापादि संस्कार करने चाहिये इन पांचों संस्कारों को केवल संन्यासियों के ही लिये नहीं वरन् सभी दीक्षितों के लिये आवश्यक है ।

वृहद्ब्रह्म संहितायाम्:- **''विरक्तो वा गृहस्थो वा सकामोऽकाम एव च ।**
तापादिना विमुक्तः स्यात् पातकैः कोटिजन्मजैः ।''

वृहद् ब्रह्म सं. में कहा गया है- चाहे विरक्त हो या गृहस्थ, सकाम हो या निष्काम इन संस्कारों से कोटि जन्मों के पातकों से भी विमुक्त हो जाता है ।

प्रथम तप्तमुद्रासंस्कार (अथर्ववेद में)

सामवेद-**''चमूषच्छयेनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रतः,**
अपामूर्मि स च मानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ।''

जो नित्य धनुष बाण का छाप धारण करता है वह पापों को पार कर लेता है वह संसार से तर जाता है वह भगवदाश्रित हो जाता है तथा वह भगवद्रूप हो जाता है ऐसा अथर्ववेद में कहा गया है । प्राणी पृथ्वी आदि पंचमहाभूतातमक संसार सागर में निमग्न रहकर भी भगवत् अंशभूत जीव धनुष बाण आदि के दिव्य आयुध चिह्नों को भुजाओं में धारण करता हुआ अपने सम्बन्धी और कुटुम्बी जनों के साथ-साथ अपना भी उद्धार करके भगवद्धाम को प्राप्त कर लेता है ।

ऋग्वेदेऽपि श्रुतिः-

''गोविन्दस्यायुधान्यङ्गे बिभ्रत् सुश्रोणि वै द्विजः ।
तुरीयं धाम तद्विष्णोर्महिष्ठः प्राप्नुयादिति ।''
''धनुः शराङ्कितोमर्त्यो यद् यत्कुर्याच्छुभं मुने ।
तत्तच्छतगुणं याति, विपरीते तु निष्फलम् ॥''
''बाहुमूले धनुर्बाणेनाङ्कितो रामकिंकरः ।'' (अगस्त्य संहिता)

ऋग्वेद में भी कहा गया है कि हे कल्याणी श्रीगोविन्द के आयुधों को धारण करता हुआ जीव श्रीवैष्णव धाम को प्राप्त करता है । अगस्त संहिता में लिखा है कि बायें हाथ में धनुष औरदाहिने बाण धारण करे । ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करें ऐसा करने से मनुष्य मुक्ति का भागी बनता है इसका माहात्म्य अगस्तसंहिता में यह है कि धनुषबाण की मुद्राओं से चिह्नित मनुष्य जो भी शुभ कार्य करता है उसका फल सौ गुना अधिक हो जाता है

इसके विपरीत बिना मुद्रा के किंये गये कर्म निष्फल हो जाते हैं । जो श्रीराम भक्त होते हैं वे अपनी भुजा को धनुष बाण से चिह्नित रखते हैं ।

श्रुति कहती है कि- भगवद् आयुधों के बिना असुर होते हैं देवता नहीं । अर्थात् आयुध धारण करने से उपास्य के गुण उपासक में आ जाते हैं इत्यादि शास्त्र वचनों से मुद्राविहीन के लिए देवत्व का निषेध कर आसुरी भाव के आवेश की बात कही गयी है यदि तप्त मुद्रा नहीं धारण किया है तो शीतल मुद्रा धारण करने का भी शास्त्रीय विधान है शीतल छाप भी चन्दनादि के लेप में मुद्रा को लिप्त करके धारण की जाती है तो वह भी वैसे ही फल को प्रदान करती है किन्तु सम्प्रदाय निष्ठों का विशेष आग्रह तो तप्त मुद्रा धारण में ही है इसलिए अगस्तसंहिता में कहा गया है कि शीतल छाप धारण करने की अपेक्षा तप्त छाप धारण करना सौ गुणा अधिक फलदायी है ।

द्वितीय संस्कार-ऊर्ध्व पुण्ड्र-तिलकधारण संस्कार

अथर्ववेद में उल्लेख है-भगवान् के चरणों के चिह्न आत्म कल्याण हेतु हैं । बीच में छिद्र से युक्त ऊर्ध्व पुण्ड्र जो धारण करता है वह परमात्मा का प्रिय होता है । पुण्यवान् होता है मुक्ति भाजन बनता है ।

भगवान् के चरणों की आकृति वाला मध्य में रिक्त स्थान वाला **अर्थात्** बीच में कुंकुम की ऊर्ध्वरेखा सफेद चन्दन से बिन्दु आदि धारण करें । **जैसे** संसार में राजमुद्रा से युक्त कोई भी राजसेवक सर्वत्र सम्मानित होता है और दुष्टों के लिये भयकारक होता है इसी प्रकार भगवद्भक्त की भगवत् मुद्रा से युक्त होकर सर्वमान्य भगवत् प्रिय और यमदूतों के लिये भयप्रद होता है । अतः भगवद् भक्त को सदैव तिलक लगाना चाहिये, इसके बिना सभी धार्मिक क्रियायें निष्फल हो जाती है । वह भगवत् सेवा का अधिकारी नहीं रहता ।

उक्तञ्च- **''ऊर्द्धव पुण्ड्रेस्थिता लक्ष्मीरूर्ध्वपुण्ड्रे स्थितो यशः ।**
ऊर्ध्वपुण्ड्रे स्थिता देवा ऊर्ध्वपुण्ड्रे स्थितो हरिः ॥ किञ्च

''मदाराधनकाले च सदा यज्ञादिकर्मणि ।
अवश्यं धारयेदेतदूर्ध्वपुण्ड्रं द्विजोत्तमः ॥''
''यज्ञो दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृकर्म च ।
वृथा भवति विप्रेन्द्र ऊर्ध्वपुण्ड्रं बिना कृतम् ॥''

''गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
अवश्यं धारयेत्पुण्ड्रं पुण्यमूर्ध्वं सुशोभनम् ॥'' इति ।

जिससे उसे कभी भगवद्भाव की विस्मृति न होवे और न ही आसुरी भाव में प्रवेश होवे । कहा गया है-कि ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक में यश, लक्ष्मी, देवताओं एवं श्रीहरि का निवास रहता है और भी ब्रह्मरात्र में कहा गया है कि जैसे संसार में मेढ़क सर्प को देखकर भय से काँपने लगते हैं उसी प्रकार ऊर्ध्व पुण्ड्र को देखकर यमराज के दूत भी कांपने लगते हैं । भगवान् ने कहा है कि श्रेष्ठ द्विजों को मेरी पूजा के समय सदैव, यज्ञादि कर्मों के समय अवश्य ही ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक को धारण करना चाहिए । हे विप्र ! यज्ञ, दान, जप, होम, स्वाध्याय और पितृ कर्म ये सभी कर्म बिना ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण के व्यर्थ हो जाते हैं अतः ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करके ही कर्म करना चाहिए । चाहे गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी हो, वानप्रस्थी या संन्यासी हो, सभी को अवश्य ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिए ।

तृतीय -नामसंस्कार

''योजयेन्नामदासान्तमाचार्यान्तमथाऽपि वा ।
भगवन्नामपूर्वञ्चेत्पापघ्नं पुण्यभाग्भवेत् ॥''
''न वेद-यज्ञाध्ययनैर्न व्रतैश्चोपवासकैः ।
प्राप्यते वैष्णवं लोकं बिना दास्येन कर्हिचित् ॥''
''न दासा वासुदेवस्य सर्वलोकेश्वरस्य ये ।
तेषां हि नरके वासः कल्पायुषः शतैरपि ॥''
हारीतस्मृतौतु- **''गुणयोगेन चाऽन्यानि विष्णुनामानि लौकिके ।**
विशिष्टं वैष्णवं नाम सर्वकर्मसु बोधितम् ॥''

तृतीय नाम संस्कारः

कृष्णयजुर्वेद में कहा गया है कि दीक्षित व्यक्ति का नाम देवता, नक्षत्र अथवा यशस्वी व्यक्ति के नाम पर रखना चाहिए । पराशरादि महर्षियों ने कहा है कि भगवन्नामपूर्वक दासान्त अथवा आचार्यान्त नाम रखना चाहिए ऐसा नाम निश्चित ही पापहारी एवं पुण्यकारी होता है जैसे श्रीहरिदास जी,

श्रीमत्कृष्णाचार्य आदि भगवान् के नाम के पश्चात् दास या आचार्य पद जोड़ देने से प्रतिदिन स्मृति में आता है जिसके परिणामस्वरूप विवेकी साधक की दुरित दुष्कर्मों से रक्षा होती है और वह ऐसे में नहीं लगता है जिसके परिणामस्वरूप सदाचार के पालन करने के कारण उसे मान सम्मान की प्राप्ति होती है पद्म पुराण में भी कहा है कि भगवद् दास्यभाव के बिना केवल वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत और उपासनादि से वैष्णव लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती है । सभी लोकों के ईश्वर भगवान् वासुदेव के जो दास नहीं है वे सैकड़ों कल्पों तक नरक में निवास करते हैं । इस प्रकार दीक्षा रहित मनुष्य की निन्दा भी सुनी जाती है उसे स्वर्ग अथवा मोक्ष का सुख नहीं मिलता है । हारीत स्मृ. में कहा गया है । गुणानुरूप नाम और विष्णु नामों में वैष्णव नाम सभी प्रकार श्रुति का निर्देश है कि भगवान् और भगवद्गुणों के साथ नाम रखना कल्याणकारी है ।

चतुर्थ-मन्त्र संस्कार

''तापं पुण्ड्रं तथा नाम कृत्वा वै विधिना गुरुः ।
पश्चादध्यापयेन्मन्त्रं शिष्यं निर्मलचेतसम् ॥''

गुरु जी विधिपूर्वक धनुष बाण का छाप, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक एवं दासान्त नामकरण के पश्चात् निर्मल चित्त वाले शिष्य को मन्त्रराज का अभ्यास करावें अर्थात् मन्त्र देवें ।

अत्र मन्त्रेष्वपि- **सर्वेषां राममन्त्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम् ।''** (पद्म पु०)
''अहञ्च शङ्करो विष्णुस्तथा सर्वे दिवौकसः ।
राममन्त्रप्रभावेण सम्प्रायाः सिद्धिमुत्तमाम् ।'' अतएव
''अनन्ता भगवन्मन्त्रा नानेन तु समाः कृताः''
(हारीत स्मृतौ)

मन्त्रों में भी श्रीराम तारक मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है जैसे पद्म पुराण में कहा गया है ब्रह्मा जी कहते हैं मैं और शंकर जी, विष्णुजी एवं समस्त देवता लोग श्रीराम मन्त्र के प्रभाव से ही उत्तम सिद्धि को प्राप्त किये हैं भगवान् के मन्त्र तो अनन्त हैं किन्तु तारक श्रीराम मन्त्र के समान कोई नहीं है ।

पञ्चम-माला संस्कार

(सनत्कुमार संहितायाम्)-

''तुलसीमालिका सूक्ष्मा कण्ठलग्ना द्विधाकृतिः ।
दद्यात्तां क्षणमात्रोपि शिष्यो नैव त्यजेत् पुनः ।''

यथा हि- **'ब्रह्मसूत्रं विना विप्राः वेदहीनाः क्रिया यथा ।**
सत्यहीनं यथा वाक्यं, मालाहीनाश्च वैष्णवाः ।''

सनत्कुमार सं. मे- गुरु के द्वारा दी हुई तुलसी की कण्ठी जो कंठ संलग्न हो, दोहरी हो और सूक्ष्म हो उसको क्षण मात्र के लिये भी शिष्य को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये । माला को उतार देने से बहुत बड़ा दोष होता है कण्ठी यज्ञोपवीत के ही समान है उसके त्याग से वैष्णवत्व की हानि होती है । यज्ञोपवीत से हीन ब्राह्मण उसी प्रकार हो जाता है जैसे वेद से हीन क्रियायें सत्य से हीन वाक्य एवं माला से हीन वैष्णव ।

तथा च- **'गुरुदत्ता तु या माला कण्ठलग्ना सुसंस्कृता ।**
तुलसी काष्ठसम्भूता न त्याज्या सा कदाचन ॥''

पद्मपुराणेऽपि- **''ततः सर्वेषु कालेषु धार्या तुलसिमालिका ।**
क्षणार्द्धं तद्विहीनोऽपि विष्णुद्रोही भवेन्नरः ॥

इत्येव न-अपितु-**''यत् कण्ठे तुलसी नास्ति ते नरा मूढमानसाः ।**
अन्नं विष्टं जलं मूत्रं पीयूषं रुधिरं भवेत् ॥''

अशुचित्वशङ्काऽपि न कार्या-

''नाऽऽशौचधारणे तस्याः यतः सा ब्रह्मरूपिणी ।'' (स्कान्दे०)

''मृतः शुद्ध्यति दाहेन तुलसीकाष्ठवह्निना ।'' (पाद्मे०)

किञ्चः- **''महापातक संहर्त्री सर्वकामप्रदायिनी ।''** (स्कान्दे०)

तुलसी काष्ठ से संस्कारित की गई गुरुदत्त माला कण्ठ से एक क्षण के लिए भी अलग न करें पद्म पुराण में भी लिखा है कि एक क्षण भी तुलसी की माला से रहित मनुष्य विष्णुद्रोही हो जाता है इस समय सदा सर्वदा तुलसीमाला धारण करनी चाहिए । और भी जिन मनुष्यों के गले में तुलसी की माला नहीं होती है वे मूर्ख हैं क्योंकि तुलसीरहित व्यक्ति के हाथ का अन्न विष्ठा, जल, मूत्र और अमृत खून के समान हो जाता है स्कन्ध

पुराण में लिखा है कि तुलसी जी में अपवित्रता की शंका भी नहीं करनी चाहिए कि तुलसी जी ब्रह्मस्वरूपा है जिससे सूतकादि में भी उनके धारण करने में अशुद्धि नहीं आती । अधिक क्या कहें श्रीतुलसीजी के काष्ठ से तो मूर्दा की भी मुक्ति हो जाती है पद्म पुराण में लिखा है कि मरा हुआ व्यक्ति तुलसीजी की लकड़ी के साथ जलाने से शुद्ध हो जाता है स्कन्ध पुराण में लिखा है कि तुलसी जी महापातकों को हरण करने वाली एवं समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली है । अत: कण्ठ में धारण की गई श्रीतुलसी जी की माला सर्वदा सभी देश काल में स्वयं पवित्र और औरों को पवित्र करने वाली होती है वह कभी भी अपवित्र नहीं होती अत: उसको हमेशा धारण करें ।

अब गुरु के लक्षणों का निरूपण

लक्षणम्- **''आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।**
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥''

नारदपञ्चरात्रेऽपि- **''अर्थपञ्चकतत्त्वज्ञा; पञ्चसंस्कारसंस्कृता: ।**
आकारत्रयसम्पन्नास्ते वै भागवतोत्तमा ॥''

जो समस्त शास्त्रों के तत्वों का संग्रह करके स्वमत में अथवा अपने व्यवहार में स्थापित करता है उनका जो स्वयं आचरण करता है वही आचार्य कहा जाता है और दूसरों को भी उस पर चलने के लिए प्रेरित करता है नारदपाञ्चरात्र में भी कहा गया है कि जो अर्थपंचक का ज्ञाता हो पंच संस्कार से सम्पन्न हो और आकारत्रय सम्पन्न जो हो वही श्रेष्ठ भागवत कहा जाता है ।

आचार्य को अर्थपञ्चक का ज्ञाता होना चाहिये ।

अर्थपञ्चक का आशय है-(१) एकमात्र ईश्वर ही प्राप्य है (२) प्राप्ता जीव है (३) प्राप्ति का उपाय करना चाहिये । (४) प्राप्ति का फल भी जानना चाहिये । (५) प्राप्ति के विरोध में आने वाली समस्याओं का हल ढूँढना चाहिये ।

''अनन्यसाधनत्वञ्च, तथाऽनन्यैव दासता ।
अनन्या भोग्यता यत्र, स वैभागवतोत्तम: ।''

आचार्य को पूर्वोक्त पांच संस्कारों एवं आकारत्रय से संयुक्त होना चाहिए जैसे- अनन्य साधनता, अनन्यदासता एवं अनन्या भोग्यता इन तीन से युक्त जो होता है वही श्रेष्ठ भागवत है ।

"भोग्यं भोज्यञ्च पानञ्च, धार्यं किञ्चन वस्तु वा ।
समर्प्यैव तु गृह्णाति, न स्पृशत्यसमर्पितम् ।"

उपभोग में आने वाली वस्तु, भोजन, पान, (पेय पदार्थ) आदि कोई भी वस्तु बिना भगवान् को समर्पित किये नहीं ग्रहण करना चाहिये ।

किञ्च- **"सत्सम्प्रदायसम्पन्नं मन्त्ररत्नार्थकोविदम् ।,**
ज्ञानवैराग्य-संयुक्तं सर्वधर्मविशारदम् ॥"
(हारीतस्मृतौ) **शुद्धसत्त्वं गुणोपेतं सदाचारनिषेविणम् ।**
आचार्यं संश्रयेत् पूर्वमनन्य वैष्णवं द्विजम् ॥"
(पाद्मोत्तर खण्डे तु) **"सहस्रशाखाऽध्यायी च सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।**
कुले महति जातोऽपि न गुरुः स्यादवैष्णवः ।"

किञ्चः- **"अवैष्णवो गुरुर्न स्यात् ।'** (स्कान्दे०) निषेधश्रवणात् ॥

सत्सम्प्रदाय अर्थात् श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादि चारों सम्प्रदायों में से किसी सम्प्रदाय की दीक्षा से मुक्त श्रीराममन्त्रराज आदि स्व स्व सम्प्रदाय के मन्त्रार्थ को जानने वाला ज्ञान वैराग्य से युक्त परम धर्मवेत्ता को गुरु बनाना चाहिए । हारीत स्मृति में कहा गया है कि सदाचार का पालन करने वाला शुद्ध सतोगुण से युक्त द्विज को गुरुरूप से स्वीकार करें पद्म पुराण उत्तर खण्ड में तो कहते हैं कि ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर वेद की हजार शाखाओं का अध्ययन करने वाला तथा समस्त यज्ञों में दीक्षित होने के बावजूद अवैष्णव गुरु नहीं हो सकता । इसी प्रकार स्कन्द पुराण में कहा गया है कि अवैष्णव को गुरु नहीं बनाना चाहिए ।

शिष्यत्व विवेचना

शिष्य कुलीन हो, शुद्धात्मा हो, ऐसा वर्णन शास्त्रों में आया है । (मु. उ.) कर्म से अर्जित लोकों को नाशवान् जानकर वैराग्य से युक्त शिष्य

भगवद् ज्ञान की प्राप्ति हेतु समिधायें लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जायें ।

किञ्च- **''यद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते,**
एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।''
''क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
देवपूजाऽग्निहवनं, सन्तोषः-स्तेय-वर्जनम् ।''
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्थितः ।''
इति दशविधगुणयुक्तो यो भवेत् स एव शिष्यताऽर्हः, नान्यथा ।
विपरीते तु 'गुरुः शिष्यकृतं पापं भुनक्ति ह्यविवेकतः ।''

और भी- जैसे यहाँ कर्म से सञ्चित लोक नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार वहाँ भी अर्थात् परलोक में भी पुण्य से सञ्चित लोक नष्ट हो जाता है । यह सब अच्छी तरह से जानकर वैराग्य से युक्त होकर भगवत्सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति के लिए समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु की शरण में जाये ।

भविष्योत्तर पुराण में लिखा है कि क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रिय निग्रह, देवपूजा, अग्निहोत्र, सन्तोष, चोरी न करना आदि दस प्रकार के धर्म सभी व्रतों के लिए सामान्य है । जो इन दस गुणों से युक्त होगा वही शिष्य बनने लायक है अन्यथा नहीं, विपरीत होने पर शिष्य के द्वारा किये गये पाप का फल गुरु भोगता है ।

''दापयेत् स्वकृतं दोषं पत्नीपापं स्वभर्तरि ।
तथा शिष्याऽर्जितं पापं गुरुमाप्नोति निश्चितम् ॥''
(गान्धर्वतंत्रे)

कुलार्णव तन्त्रे० **''मन्त्रिदोषाश्च राजानं, जायादोषः पतिं यथा ।**
पार्वतीं प्रति शिवोक्तिः- **''तथा प्राप्नोत्यसन्देहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये ॥**

गान्धर्व तन्त्र में लिखा है कि जैसे पत्नी के किये गये पाप का फल उसका पति भोगता है वैसे ही शिष्य के द्वारा अर्जित पापों का फल निश्चित ही गुरु को भोगना पड़ा है इसी प्रकार कुलार्णव तन्त्र में शिव जी पार्वती से कहते हैं- जैसे मन्त्रियों के दोष राजा को पत्नी का दोष पति को प्राप्त होता है वैसे ही हे प्रिये ! शिष्य का पाप गुरु को प्राप्त होता है ।

इस सब बातों का ध्यान रखते हुये शिष्य की परीक्षा करके दी हुई दीक्षा सफल होती है, मानव के लिये कल्याणकारिणी होती है । संस्कारों की योग्यता का इसमें प्रमुख स्थान है । दीक्षा संस्कार से ही वह भगवान् का निकटवर्ती बनता है । भगवान् में उसकी आसक्ति होती है वह भगवत प्रिय होता है । भगवान् के निःश्वास भूत वेदों में उसकी श्रद्धा होती है । पूर्ण विश्वस्त होकर ही वह भगवत् सेवा का अधिकारी बन सकता है । अन्यथा की स्थिति में नहीं ।

इस प्रकार सब तरह से श्रीरामानन्द पूर्णतया अधिकारी हैं । श्रीरामानन्द नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं और पूर्णरूपेण विद्या, सदाचार विवेक एवं योग्यता से परिपूर्ण हैं । उन्होंने विद्यालयीय नियम का परिपालन करते हुये आदर्श छात्र जैसी भूमिका का निर्वहन किया है आज तक किसी अन्य ने ऐसा आदर्श उपस्थित नहीं कर पाया है और भविष्य में भी सम्भवतः कोई नहीं कर पायेगा ।

यद्यपि उचित तो यह था कि जिस प्रकार श्रीरामानन्द ने ब्रह्मचर्य का सम्यक् पालन किया है उसी प्रकार वे गृहस्थाश्रम का भी पालन करते रहे । किन्तु वैराग्य का उदय हो जाने पर 'उदारचारितानान्तु वसुधैवकुटुम्बकम्' की भावना को स्वीकार करते हुये उन्होंने संन्यास ही ग्रहण करने का विचार किया है । आज श्रीरामानन्द अपने माता-पिता के शतशत शुभाशिष एवं अभिनन्दन प्राप्त करते हुये लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अनुमति प्राप्त कर भगवती भागीरथी के पवित्र रज कणों में बैठकर संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं । अतः सभी को परम प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये कि भगवान श्रीरामचन्द्र अपनी कृपा दृष्टि से श्रीरामानन्द को पूर्ण शक्ति सम्पन्न बनायें । जिससे कि वे अपने संन्यास धर्म का सम्यक् पालन करते हुये विश्व का कल्याण कर सकें ।

इस प्रकार के सामयिक तत्त्वोपदेश के बाद श्रीराघवानन्दाचार्य ने श्रीरामानन्द के समीप पहुँचकर दीक्षा विधि का प्रारम्भ किया । पहले पुण्ड्र (तिलक) संस्कार करके माता पिता के शुभाग्रह के अनुसार ही स्वामी पद से संयुक्त वहीं नाम 'स्वामी श्री रामानन्द इस नाम का निश्चय किया । इसके बाद मंगल वाद्य ध्वनि तथा मांगलिक गीत प्रारम्भ हो गये । साथ-साथ समुपस्थित वैदिक पण्डितों ने वेद ध्वनि के साथ मन्त्रोपदेश किया । उस

समय देवताओं के सदृश ब्राह्मणों ने वेद मन्त्रों से स्वस्ति वाचन पूर्वक आशीर्वचनों से अभिनन्दन किया । तदनन्तर त्रिदण्डधारण करके श्रीरामानन्द स्वामी संन्यस्त आश्रम में श्रीविरक्त वैष्णवाश्रम में प्रविष्ट हुये ।

इस प्रकार अपने पुत्र को संन्यास वेष से विभूषित देखकर सुशीला एवं पुण्यसदन के नेत्रों से आनन्दाश्रु निकलने लगे । किन्तु स्वार्थ को छोड़कर लोककल्याण की कामना से (संन्यस्त हुये हैं) इस प्रकार अपने मन को समझाकर गन्ध, कुंकुम, अक्षत, पुष्प श्रीफल आदि मांगलिक द्रव्यों से सम्पूजित कर श्रीरामानन्द को अपने शुभाशिषों से सुशोभित किया । श्रीगुरुचरणों ने भी सहर्ष दीक्षा विधि सम्पन्न की । तदनन्तर श्रीरामानन्द स्वामी को गुरु जी ने उपदेश किया ।

मेरे प्रिय शिष्य ! अब तुम्हारी हार्दिक कामना परिपूर्ण हुई । श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहणकर आप संन्यासाश्रमी बन गये हैं । तुम्हारे इस विशाल कार्य क्षेत्र में पहले की अपेक्षा अब और अधिक कर्त्तव्य बढ़ गये हैं । अत: सावधानीपूर्वक सभी दायित्वों का सम्पादन आपको करना चाहिये । जिस उत्साह एवं प्रबल भावना से आपने इस विरक्त आश्रम में प्रवेश किया है उसी प्रकार अथवा उससे भी दुगुने उत्साह से नियमों तथा उपनियमों का पालन भी होना चाहिये । इसमें जितनी सावधानी आप रखेंगे उसी के अनुरूप तुम्हें सफलता भी प्राप्त होगी ।

किञ्च स्मरणीयमेतत्- **''द्रव्यार्थमन्नावस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा ।**
संन्यसेदुभयभ्रष्टः मुक्तिं नाऽऽप्तुमर्हति ।''

यतो हि- **''वमनाऽऽहारवद् यस्य भाति सर्वैषणादिषु ।**
तस्याऽधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाऽभिमानिनः ॥

अर्थात्- अर्थात् द्रव्य, अन्न, वस्त्र या प्रतिष्ठा के लिये जो संन्यासी बनता है वह मुक्ति को प्राप्त नहीं करता । वह दोनों ओर से पतित हो जाता है । देहाभिमान छोड़कर सभी प्रकार की लौकिक अभिलाषाओं वासनाओं को वमन की भाँति जो त्याग देता है उसी का संन्यासाश्रम में अधिकार है ।

"शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः परिग्रहः ।
अहङ्कारो ममत्वञ्च चिकित्सा धर्मसाहसम् ।
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रोषधिगराशिषः ।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥"

किञ्च- "परिव्राजकः सर्वभूताऽभयदक्षिणां दत्त्वा प्रतिष्ठेत्" (वशिष्ठधर्मसूत्रे)

तथाः- कौपीनं युगलं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य सङ्ग्रहम् ॥"
विद्वान् स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः ।
कारागारविनिर्मुक्त-चोरवत् दूरतो वसेत् ॥
'अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ (मनु० ६९)
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रा सङ्गाद्विनिर्गत; ॥ (मनु० ६।५७)

जो देहाभिमान आदि को छोड़ दिया है हर प्रकार की लौकिक एषणाओं का त्याग वमन की तरह कर दिया है फिर उसमें प्रवृत्त नहीं होता है वास्तव में वही संन्यास का अधिकारी है । लौकिक एषणाओं की कामना वाला नहीं । नारद परिव्राजकोपनिषद् में लिखा है कि- तृष्णा क्रोध, अनृत, माया, लोभ, मोह प्रिय एवं अप्रिय का त्याग करना चाहिए । एवं शिल्प, व्याख्यानोत्कण्ठा, काम, अनुराग प्राप्ति की कामना, अहंकार, ममता, चिकित्सा, धर्म, साहस, प्रायश्चित, प्रवास, मन्त्र, औषध, विष, आशीर्वाद आदि साधक को । पतनोन्मुख बनाने वाले सारे व्यापारों को दूर से ही त्याग देना चाहिए संन्यासियों को । संन्यासी अपने बन्धु बान्धवों को छोड़कर परिग्रह से रहित होकर विधिपूर्वक संन्यास ले लें लंगोटी और वस्त्र को धारण करके विचरण करें वर्षा में एक स्थान में रहें । और संन्यासी सभी प्राणियें को अभय दक्षिणा देकर प्रतिष्ठित हो कौपीन, दो वस्त्र, शीत से बचने के लिए कन्था और दो पादुका बस इतना ही संग्रह संन्यासी को करना चाहिए अन्य किसी वस्तु का नहीं । कारागार से निकले हुए चोर की तरह विद्वान् संन्यासी को स्वतः संन्यास के बाद अपने देश (ग्राम) को छोड़कर दूर में जाकर

रहना चाहिए अध्यात्म में रति करते हुए बैठते हुए निरपेक्ष रहते हुए, आमिष का सर्वथा त्याग करते हुए आत्मा के सहारे आत्म सुख की इच्छा करता हुआ जगत् में विचरण करें। किसी वस्तु की प्राप्ति न होने पर दुखी न हो, प्राप्त होने पर खुश न हो। आसक्ति से रहित होकर जीवन धारण के लिये केवल भोजन से ही सन्तुष्ट होकर संग रहित हो यात्रा करें।

यति चार प्रकार के बतलाये गये हैं-कुटीचक बहूदक हंस और परमहंस

जो ब्राह्मण यतियों के बाहरी चिह्नों को ग्रहण कर विरक्त होकर अपने घर में ही रहता है वह कुटीचक्र यति है। बहूदक वह यति है जो गृह का परित्याग कर विरक्त होकर भिक्षा से जीवन निर्वाह करता है और यति के चिह्न धारण करता है। हंस-वह है जो शास्त्र सम्पन्न वेद वेत्ता शरीर से निस्पृह और सदा प्राणायाम में रत रहता है।

परमहंस-वह है जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, वर्ण में से कोई भी है। **परम** वैराग्यवान्, विद्वान् विचरणशील और धार्मिक हो।

'अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: स संन्यासी इत्यादि शास्त्रीय वचनों का सर्वदा सर्वत्र और सम्पूर्ण रूप से स्मरण रखते हुये व्यवहार करना। शास्त्रोक्त संन्यासि धर्म का पालन करते हुये अपने कल्याण के साथ-साथ सभी प्राणियों के हित में रत रहकर धर्म, देश, भारतीय संस्कृति, संस्कृत भाषा, वेदों धर्मशास्त्रों और पुराणों का संरक्षण करते हुयें पाखण्डी, मिथ्या वेषधारी, छद्मवेषी, धर्म विमुख एवं ठगने वालों का उन्मूलन करते हुये, सत्य धर्म का प्रचार प्रसार करते हुये सीधे, धर्म प्रिय जनों को सन्मार्ग में लगाते हुये अज्ञानवश भ्रमित संसार की चकाचौंध से अलग कर सन्मार्ग में लाते हुये सनातन धर्म की रक्षा करो। सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर तुम्हारे ऊपर दया करते हुये तुमको सर्वोत्तम प्रज्ञा, बल, यश, शान्ति, त्याग, एवं कर्तव्य का सामर्थ्य प्रदान करें। ज्ञान को सुदृढ़ बनाने के लिये मैं पुनः चारों प्रकार के संन्यासियों के कार्यकलापों और उनकी संज्ञाओं का तुम्हें स्मरण दिला रहा हूँ। जिससे यथा योग्य स्वरूप को धारण करके रहे (कुटीचक-बहूदक-हंस और परमहंस)।

१. कुटीचक वह संन्यासी है जो ब्राह्मण होते हुये बाह्य चिह्नों को धारण भ्रमण में असमर्थ होता हुआ कुटी बनाकर गाँव घर में ही सर्वदा भगवत् स्मरण करता है ।

२. जो ब्राह्मण गृह कुटुम्ब से विरक्त होकर संन्यासी के चिह्नों को धारण करते हुये तीर्थाटन करता हुआ भिक्षा के अन्न से अपना पोषण करता है वह बहूदक है ।

३. हंस वह है जो शास्त्रों के तत्त्व को जानता है वेद वेत्ता है और वेदोक्त कर्मों को करता हुआ प्राणायाम में परायण है जिसका शारीरिक मोह छूट गया है ।

४. परमहंस वह है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य तीन वर्णों में से एक हो । परम वैराग्यवान् हो । जो सब जगह भगवत् भावना रखता हो । पूरे संसार को भगवत् रूप मानता हो । धर्म पालक हो । एक जगह निवास न करता हो । परिभ्रमण में रहता हो ।

इनमें से जो स्वरूप आपको रूचिकर हो आप वहीं धारण कर सकते हैं । लोक कल्याण हेतु हम हृदय से आशीष देते हुये आपका अभिनन्दन करते हैं ।

आचार्य श्रीराघवानन्दाचार्य की उपदेश परम्परा को सुनकर श्रीरामानन्द स्वामी परम भक्तिपूर्वक प्रसन्न मन से श्रीगुरुचरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुये नम्रतापूर्वक निवेदन करने लगे ।

हे भगवत्स्वरूप पूज्यपाद श्रीआचार्य चरण ! आपने करुणा सागर बनकर मुझे अकिंचन एवं साधन विहीन भक्त जानकर अपने सहज अनुग्रह रूपी वर्षण से तृप्त कर दिया । अत्यन्त सुन्दर तृषाकुल चातक को तृप्त करने वाली, मेरे हृदय रूपी अज्ञानान्धकार को दूर करने वाली, सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान रूपी आनन्दरस को प्रदान करने वाली, उपदेशरूपी अमृत वृष्टि करके जो आपने परम कल्याणमय मार्ग दिखाया है, उससे अत्यधिक प्रसन्न मैं अपने को कृतकृत्य मान रहा हूँ । तथा बारम्बार प्रार्थना कर रहा हूँ कि अपने ध्येय रूपी मार्ग में निरन्तर मैं आगे बढ़ता हुआ सफलता प्राप्त करूँ । सर्वान्तर्यामी उरप्रेरक श्रीरामचन्द्र जी अपने चरणों में अनुरक्ति एवं भक्ति प्रदान करें । बारम्बार करबद्ध यही प्रार्थना है ।

"मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारंः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥"

कि "मोक्ष के द्वार में चार द्वारपाल नियुक्त हैं, शम, विचार, सन्तोष एवं सज्जनों की संगति ।

अतः मैं पग-पग में इन चारों को प्राप्त करता चलूँ ।

इस प्रकार की अमृतवर्षिणी सभी को हृदयों के अत्यन्त प्रिय, भगवान् राम एवं सीता जी को प्रसन्न करने वाली श्रीरामानन्द के मुखारविन्द से निर्गत वाणी को सुनकर देवताओं की भाँति मनुष्यों ने गगन व्यापी जय जय की ध्वनि करते हुये चारों ओर से पुष्प वृष्टि की ।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

श्रीरामानन्द स्वामी आचार्य वर गुरु श्रीराघवानन्दाचार्य की सन्निधि प्राप्त कर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान समाधि के सम्यक् अभ्यास से सर्वांगयोगसिद्धि प्राप्त कर अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये । सम्पूर्ण शास्त्रों के विवेचन में अद्‌भूत निपुणता प्राप्त कर ली । सभी वासनाओं से मुक्त होकर सम्पूर्ण विषय विलासों की भोगेच्छा से निवृत्त हो गये । अनेक प्रकार के पवित्र एवं उदात्त चरित्रों से साक्षात् त्याग की मूर्ति के समान अपने आप ही आप्त काम बनकर भूख और प्यास के वेग को जीत लिया । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मात्सर्य आदि छः शत्रुओं को विजितकर अपूर्व शान्ति में निमग्न हो गये । केवल कौपीन से ही वस्त्रों की सन्तुष्टि कर ली । प्रतिदिन भगवच्चरणारविन्द चिन्तन के आनन्द रूपी अमृत से अपने को तुष्ट तथा पुष्ट करने लगे । भगवत् कृपा का अपूर्व कोश उन्हें उपलब्ध हो गया । योगिजनों की चर्य्या उन्हें सुलभ हो गयी ।

ऐसे धर्म प्राण समय में भी ज्ञान प्रभा से प्रकाशित पवित्रतम भारतवर्ष में भी उस समय मनुष्यों को भ्रम में डालने वाले धूर्त सम्राटों द्वारा प्रचारित कुपथरूपी गड्ढों में गिराने वाले पाखण्डपूर्ण पापपूर्ण मत चारों ओर व्याप्त थे । उन्हीं में से एकमत कौलमत भी था । जिसमें 'पञ्चमकारों' की उपासना हुआ करती है । यद्यपि इस मार्ग में चलने वालों के लिये तलवार की तीक्ष्ण धार में दौड़ने जैसी कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता है । इस मार्ग में इन्द्रियों की तृप्ति रूपी कामना का स्थान नहीं है । किसी प्रकार की चंचलता का इसमें स्थान नहीं है । यह वह मार्ग है जिसमें प्रबल रूप से जितेन्द्रियत्व की साधना की जाती है । सभी देवताओं में एकता एवं समानता की भावना की जाती है । अपने एवं पराये में भेद न मानते हुये सामूहिक कुल परम्परा से समागत आचार व्यवहार का पालन किया जाता है । इसीलिये इस मत का नाम कौल मत पड़ गया । किन्तु इसमें भी कालक्रम से पाखण्ड की परम्परा चल पड़ी । जिह्वा एवं जननेन्द्रिय को उद्दीप्त करने वाली प्रचण्ड पाखण्ड परम्परा प्रवर्तित हुई । और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा

मैथुन इन पाँच मकारों से प्रारम्भ होने वाली वस्तुओं का अधिक महत्त्व उद्घोषित किया गया। विकृत रूप में यह तन्त्र साधना कौलीय कुल में कलंक की तरह विकसित हो गयी। कामकला को बढ़ावा देने वाली विलासी पुरुषों एवं कामिनियों के मन को अनुरंजित करने वाली यथेच्छाचार एवं स्वतन्त्र विहार की पद्धति से यह युक्त हो गयी।

कारण यह था कि उस समय चारों ओर म्लेच्छों की संस्कृति का दुष्प्रभाव फैला हुआ था। अतः उस संस्कृति से विमोहित अधिक से अधिक मनुष्य अपनी इन्द्रियों को तृप्ति देने वाली स्वेच्छाचार का प्रसार करने वाली पद्धति को स्वीकार कर रहे थे। अतः उनको इस माध्यम से उपभोगों की सुलभता युवतियों एवं युवकों का स्वच्छन्द मांस सेवन, मद्यपान एवं केलिकलाप बहुत ही मनमोहक और सार्थक लगने लगा।

कल्पवृक्ष की भाँति सभी मनोरथों की पूर्ति करने वाले इस सम्प्रदाय में 'मैं पहले' 'मैं पहले' की होड़ लगाकर युवक एवं युवतियों के झुण्ड के झुण्ड प्रविष्ट हो गये। अधिक क्या कहा जाय धर्म कर्म के परदे की आड़ में स्वेच्छाचार एवं व्यभिचार का पल्लवन होने लगा। 'कौल मत' जो वस्तुतः विशुद्ध साधन युक्त योग पथ था उसको दुराचारी इन्द्रियलोलुप मानवाधमों ने स्वेच्छाचार एवं व्यभिचार में परिवर्तित कर पवित्रवेद मत को भ्रष्ट कर दिया।

कुल परम्परा से चले आने वाले तान्त्रिक कौल मत में योग में भी भोग का मनमाना अर्थ कल्पित कर शास्त्रीय प्रामाणिक वचनों का अनर्थ करते हुये इस योग विशेष के गूढ़ रहस्य को ये मूढ़ नहीं जान पाये। कामेश्वर उपासना का यह एक प्रकार है। प्रकृति पुरुष संयोग भोग योग का परम तत्त्व है। महानिर्वाणतन्त्र में लिखित वचनों का भी अपनी कल्पना के अनुसार ये भ्रष्ट लोग अर्थ लगा लेते हैं।

भोग बहुलता है जहाँ योग से नहि कहु काम। योग भोग से दूर है कौलहि दोउ अभिराम॥

इस प्रकार के वाक्यों का प्राकृत पुरुषों द्वारा किया जाने वाला भोगोपभोग अर्थ नहीं है। वास्तविक अर्थ तो योग साधन प्रक्रिया से ही अनुगत है। वह अर्थ आगे स्पष्ट किया जायेगा। स्त्री पुरुष सम्भोग निदर्शक पशु प्रवृत्ति वाले मानव मन को मोहित करने वाले ये वाक्य भी उत्कृष्ट योग

साधना के प्रतीक हैं भगवान् शंकर विरचित हैं इन वाक्यों का वास्तविक अर्थ इसी परिच्छेद में स्पष्ट किया जायेगा इनका अर्थ व्यभिचारपरक है ही नहीं ।

किन्तु भोगवासना के लोलुप लोग महायोगमय होते हुये भी इस मत को हठपूर्वक व्यभिचार से जोड़ देते हैं और तन्त्र विमुख भोले भाले लोगों को भ्रमित कर देते हैं । विषयी, भोगी, धूर्त्त एवं पाखण्डी लोग अनेक प्रकार के आडम्बरों का प्रदर्शन करते हुये कामकलाविलासी युवती एवं युवकों को मोहित कर स्वयं भी नरक गामी होते हैं और ऐसे कार्यों में प्रवृत्त कराकर अपने अनुयायी जनों को भी नरक में डाल देते हैं ।

एक बार श्रीरामानन्द स्वामी ने लोगों के मुख से यह वृत्तान्त सुना कि काशी में भी ऐसे धूर्त्तों का समूह विद्यमान है जो कौलमत को कलंकित करते हुये उसी प्रकार के व्यभिचार का पोषण कर रहा है और उसका प्रचारक पाखण्ड पण्डित धूर्तराज दुर्जनानन्द है । जो लोग यथार्थ रूप में इस मत को जानना भी चाहते हैं उन भोले भाले लोगों को अपने वाग्जाल में फँसा कर अपने मण्डल में सम्मिलित करके उसी कुत्सित मार्ग में चलने के लिये यह प्रेरित कर देता है ।

अत: श्रीरामानन्द स्वामी उस धर्मध्वजी पाखण्ड मठ में अपने कुछ शिष्यों के साथ दुर्जनानन्द के महाभोगमण्डल को देखने के लिये वहाँ पहुँचे । वहाँ पहुँचकर देखते हैं कि 'कौलमत' को दूषित करने वाला वह दुर्जनानन्द स्वकल्पित पाखण्ड और आडम्बर से युक्त पद्धति का अनुसरण करता हुआ अपनी दैनिक प्रक्रिया का प्रवर्तन कर रहा था । वहाँ बीच में एक योनि मुद्रा के आकार का कुण्ड था । कुण्ड में हवनादि कार्य पूर्ण करके समुन्नत दिव्य पीठ में स्वयं बैठा हुआ चक्र पूजा में सम्मिलित अपने शिष्यों को मद्य और मांस मिश्रित यन्त्र राज की पूजा का अवशिष्ट यज्ञ प्रसाद वितरित करता हुआ मद से चंचल नेत्र वाला दुर्जनानन्द उसी प्रकार के मद विह्वल नेत्र वाले अस्त व्यस्त वस्त्रों वाले अभी-अभी मैथुन क्रिया से निवृत्त होने वाले अधिकतर नग्न युवक एवं युवतियों को जो मर्यादा से रहित थे उन्हें हँसता हँसाता हुआ लज्जाविहीन जनों का मनोरंजन कर रहा था । ऐसे लोगों का एक नियम यह भी था कि उस मत या सम्प्रदाय में दीक्षित लोगों का ही वहाँ प्रवेश होता था अन्य का नहीं । उस मार्ग से विमुख लोगों को वे कंटक समझते थे और कण्टक कहकर ही उन्हें सम्बोधित करते थे ।

अत: दीक्षाविहीन श्रीरामानन्द स्वामी की मण्डली को सहसा वहाँ आया हुआ देखकर आश्चर्य, क्रोध एवं मदपान से कलुषित अपने लाल नेत्रों को विस्फारित कर क्रोध से भरे हुये दुर्जनानन्द ने कहा-

अरे संन्यासी ! बिना आज्ञा प्राप्त किये हमारे पूजागृह में दीक्षाविहीन आप लोग प्रविष्ट होकर क्या सभ्य जनों के योग्य आचरण कर रहे हैं ? यह हमारा पूजा का समय है । इस समय किसी भी दीक्षाविहीन व्यक्ति का प्रवेश यहाँ वर्जित है । उपासना के समय में यदि कोई दुष्टात्मा का यहाँ प्रवेश होता है तो उसका कल्याण नहीं होता । अत: आप लोग शीघ्र ही यहाँ से बाहर निकल जायें ।

तदनन्तर मन्द हास्य से विकसित मुखारविन्द श्रीस्वामीरामानन्द ने तुरन्त ही हँसते हुये कहा-भगवन् दुर्जनानन्द ! यह कैसी उपासना है ? यदि वास्तव में यह उपासना भवन है, तों क्या समुपासना में भी ऐसी नग्नलीला हुआ करती है ? किस तन्त्र में यह कहा गया है कि मद्य मांस से युक्त होकर कामिनियों के कन्धों पर भुजपाश डांलकर व्यभिचार कार्य करना एक साधना है या पूजा का एक प्रकार है ?

श्रीस्वामी रामानन्द जब यह कह ही रहे थे कि तभी तक क्रोध में अन्धा होता हुआ वह दुर्जनानन्द बोल उठा-

अरे ! नये संन्यासी ! क्या तुम मुझे नहीं जानते हो कि मैं कौन हूँ? मैं वही प्रसिद्धतम जगत्सम्मान्य महान तान्त्रिक कौलाचार्य हूँ । दुर्जनानन्द हूँ जिसने अनेक बार अपने वैभव से बड़े-बड़े आश्चर्य में डाल देने चमत्कार दिखाये हैं और सैकड़ों आश्चर्य जनक सिद्धियों को प्रदर्शित किया है । मैं ऐसा महान् साधक एवं समुपासक हूँ ।

अब तक तुमने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष रूप से चमत्कृत कर देने वाले तान्त्रिक प्रभाव को नहीं देखा है । इसीलिये तुम ऐसा मिथ्या प्रलाप कर रहे हो । इसलिये मैं कहता हूँ कि शीघ्र ही मेरे आश्रम से दूर चले जाओ यदि अपने आप को कुछ दिन इस संसार में और जीवित देखना चाहते हो, अन्यथा मेरी क्रोधाग्नि में पतिंगे की भाँति तुम जलकर भस्म हो जाओगे । एक बार मन्त्रोच्चारण मात्र से ही इस जलते हुये कुण्ड की अग्नि में पूरे मण्डल के साथ भस्मीभूत हो जाओगे ।

इस प्रकार के उसके मद्यपान के उन्माद में कहे गये कटुवचनों को सुनकर भी अनसुनी करते हुये प्रशान्त धीर एवं गम्भीर मुद्रा से मन्द हास्य से युक्त श्रीमुख से नम्रता पूर्वक श्रीरामानन्द स्वामी ने कहा-

भगवन् ! दुर्जनानन्द महोदय ! योग दृष्टि से तो यह शरीर केवल भस्म ही है । भस्म के अलावा कुछ नहीं है । यह शरीर स्वयं ही भस्मीभूत है भस्म को पुनः भस्म बनाने में क्या अग्नि समर्थ है ? मैं तुमसे थोड़ी सी भी बात करने में भयभीत नहीं हो रहा हूँ अतः कुछ पूँछना चाहता हूँ आप कुछ शान्तिपूर्वक उत्तर दें । बताइये यह आपका सम्प्रदाय या मत किस प्रकार का है ?

इस प्रकार प्रशान्त, मधुर मुख मण्डल से सुशोभित श्रीरामानन्द स्वामी के शान्ति प्रधान प्रश्न का प्रभाव दुर्जनानन्द के ऊपर पड़ने लगा । अतः उसने भी कुटिल आलाप छोड़कर शान्त भाव से एवं सरलतापूर्वक उत्तर दिया । भगवन् ! यह हमारा कौलमत है हम लोक वाममार्गी हैं । यह हमारा सम्प्रदाय सनातन है । इसमें शक्ति पूजा का प्रचलन है । शक्ति-उपासकों की यह सनातन पद्धति है । कुल परम्परा से चली आने वाली इस रीति को कौली के नाम से जाना जाता है । अतः हम कौल हैं और यह कौल मत है ।

श्रीरामानन्द- तो क्या इस प्रकार की भ्रष्ट सामग्री से शक्ति की उपासना का विधान है ?

दुर्जनानन्द- महाशक्ति के प्रसाद के लिये तन्त्रादि में प्रदर्शित यह सामग्री अतीव श्रेष्ठ मानी जाती है । नितान्त मुक्ति दायिनी एवं भगवती को अतीव प्रिय है । आप इस सामग्री को भ्रष्ट कह कर अपनी वाणी को क्यों कलुषित कर रहे हैं ? जबकि आपने संन्यास भी धारण कर लिया है ।

श्रीरामानन्द- (आश्चर्य के साथ) यह मुक्ति देने वाली सामग्री है ? क्या इससे देवी भगवती प्रसन्न होती हैं ?

दुर्जनानन्द- (गर्व के साथ) हाँ इसके मुक्तिदायिनी होने में क्या सन्देह है ?

उक्तञ्च:- ''मद्यंमांस च मीनञ्च मुद्रामैथुनमेव च ।

मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥ इति ।

कहा गया है-मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन ये पञ्च मकार योगियों के लिए भी मुक्तिदायक कहे गये हैं ।

श्रीरामानन्द स्वामी-मन्द हास्य करते हुये बोले-भगवन् ! दुर्जनानन्द ! आप केवल आयु से ही वृद्ध हुये हैं अभी आप में ज्ञानवृद्धता नहीं आई है । यह अत्यन्त खेद का विषय है । जहाँ-जहाँ तन्त्र शास्त्र में यह श्लोक लिखा गया है वहाँ आपका यह स्वेच्छा से कल्पित अर्थ तत्त्ववेत्ताओं ने कहीं भी स्वीकार नहीं किया है । आप क्यों इसको तन्त्रोक्त कहकर अपने मनोऽनुकूल दुराचार में युवक एवं युवतियों को संलग्न कर उन्हें ठग रहे हैं ? जिस प्रकार तुम तन्त्र के बहाने अपने कलुषित भावना का पोषण कर रहे हो वैसा उल्लेख कहीं भी नहीं है । बल्कि आपके आचरण के विरूद्ध तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है । इसी प्रकार 'वाम' शब्द का भी सुन्दर, सरस मार्ग ऐसा अर्थ किया गया है शास्त्र में । और इसी प्रकार उसके अधिकारी का भी लक्षण पहले ही कहा गया है-

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः ।

(मेरुतन्त्रे-) **परापवादे मूको यः सदा स विजितेन्द्रियः ॥''** इति

मेरु तन्त्र में लिखा है- 'जो दूसरों के धन के लिये अन्धे के समान है दूसरों की स्त्रियों के लिये जो नपुंसक के समान है । दूसरे की निन्दा करने में जो गूँगे के समान है वही जितेन्द्रिय कहा गया है ।

इस प्रकार के ब्राह्मण का ही वाम मार्ग में अधिकार है । यहाँ इन्द्रिय लोलुप जनों का अधिकार नहीं है ।

दुर्जनानन्द- मन्त्र और औषधियों से रोके गये पराक्रम वाले सर्प की भाँति अपने क्रोध को रोकते हुये दुर्जनानन्द बोला-क्या ये पाँच मकार शास्त्रोक्त नहीं है ?

श्रीरामानन्द- भगवन् ! पञ्च मकार तो शास्त्र में वर्णित हैं किन्तु आप जो इनका अर्थ ले रहे हैं वह शास्त्र विरुद्ध है । वह केवल अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिये है । तन्त्रोक्त पंच मकारों का प्रयोग

वही कर सकता है जो जितेन्द्रिय है या इन्द्रियातीत है । आपके द्वारा प्रवर्तित पद्धति नरक प्रदात्री है ।

दुर्जनानन्द- तो फिर आप ही बतलायें कि इन्द्रियातीत व्यक्ति इनका प्रयोग किस प्रकार करने में सक्षम होगा । कैसे वह मद्य मांस का उपभोक्ता बन सकेगा ।

श्रीरामानन्दः- भगवन् ! यहीं पर तो आपको मतिभ्रम है । सर्वप्रथम आप यही विचार करें कि मद्य क्या है ? विजयतन्त्र में इसका प्रमाण एवं स्वरूप वर्णन आया हुआ है ।''

'यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरञ्जनम् । तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम् ।

जो पर ब्रह्म निर्विकार एवं निरञ्जन कहा गया है तद् विषयक ज्ञान ही यहाँ मद्य कहा गया है नीच पुरुषों से ग्राह्य उन्माद को प्रकट करने वाला पेय पदार्थ नहीं ।

अन्यत्रापि- **''ब्रह्मस्थान-सरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा**

(भैरवयामलतन्त्रे) या शुभ्रांशुकला सुधाविगलिता सा पानयोग्या सुरा ।

भैरवयामल तंत्र में भी कहा गया है-ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्त्रदल कमल रूपी पात्र में ब्रह्माण्ड को तृप्त करने वाली जो विशुद्ध अमृतधारा प्रवाहित है वहीं योगियों के द्वारा पान करने योग्य है । इसी प्रकार कुलार्णव तन्त्र में भी कहा गया है कि-

तन्त्रे- **''व्योमपङ्कजनिस्पन्द सुधापानरतो नरः ।**

मधुपायीसमः प्रोक्तः, इतरे मद्यपायिनः ॥''

(एवं च योगिनीतन्त्रेऽपि)

''कुण्डल्या मिलनादिन्दोः स्त्रवते यत् परामृतम् ।

''पिबेद् योगी महेशानि ! सत्यं सत्यं वरानने ।''

योगिनी तन्त्र में- अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के सहस्त्रदल कमल में कुण्डलिनी के मिलने पर अर्थात् भगवत् ध्यान में मस्तक में स्थित चन्द्र से उत्पन्न होने वाला जो आनन्दमय अमृत झरता है उसी अमृत का पान

योगिजन करते हैं । उसी को कौलाचार में महापान कहते हैं । इसका अर्थ मद्यपान नहीं है ।

रुद्रयामलतन्त्रेऽपि- **विजया रससारेण विना बाह्यासवेन च ।**
वायव्याऽऽनन्दसंयुक्तो ब्रह्मज्ञानी प्रकीर्तितः ॥'

रुद्रयामल तन्त्र में- अर्थात् भाँग के रस को पीकर अथवा लौकिक वृक्षों के फलादिकों से निर्मित मदकारक मद्य पीकर उन्मत्त व्यक्ति योगी या ज्ञानी नहीं कहलाता । किन्तु कुण्डलिनी के द्वारा अपने ब्रह्माण्ड से निकले हुये अमृत बिन्दु को पीकर जो परमानन्द रस में निमग्न होता है वही योगी ज्ञानी या मुख्य कौल कहा जाता है । वही तान्त्रिक है और वाममार्गानुयायी है । संसार में मदिरा पीने वाला नहीं ।

गन्धर्व तन्त्रे च- **''जिह्वया गलसंयोगात् पिबेत् तदमृतं तदा ।**
योगिभिः पीयते तत्तु, मद्यं गौडं हि पैष्टिकम् ॥'

गन्धर्व तन्त्र में- योगी लोग अपनी जिह्वा को जिह्वा के मूल के समीप ले जाकर मस्तक ब्रह्माण्ड सहस्रदल कमल से विगलित अमृत बिन्दु को धारण करते हैं अर्थात् गले के भीतर ले जाकर अपनी जिह्वा से अमृतबिन्दु का पान करते हैं उसी के द्वारा वे परमानन्द में मग्न होकर यत्र तत्र भ्रमण करते हैं न कि मुख में दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाले मधुमैरेय शराब आदि के पीने से प्रमत्त होकर ।

दुर्जनानन्द- अच्छा ठीक है मद्य को जाने दीजिये किन्तु मांस की क्या परिभाषा होगी ?

स्वामी श्रीरामानन्दः-**''मां सनोति हि यत्कर्म तन्मांसं परिकीर्तितम् ।**
न च कामप्रतीकं तु योगिभिर्मांसमुच्यते ॥''
जौन क्रिया से राम को कर्म समर्पित होय ।
मांस भक्षण तेहि जानिये नकि विषयिन मन जो होय ॥

आगमसागरेऽपि- **''मा शब्दाद् रसना ज्ञेया, तदंशान् रसनाप्रियान् ।''**
सदा यो भक्षयेद् देवि ! स एव मांससाधकः ॥''
माशब्दहि रसना कहै जेहिते वाणी प्रकटाय ।
वाणी संयम सदा करि मांसादी कहलाय ॥

स्वामी श्रीरामानन्दः- अर्थात् समस्त कर्म और सम्पूर्ण कर्मों के फल यदि परब्रह्म को समर्पित कर दिये जाये तो वह समर्पण कर्म ही मांस शब्द

से अभिहित होगा । अथवा अज्ञान भक्षण ही मांस का लक्षण है न कि जीव हिंसा जन्य मांस भक्षण है-

मा शब्द रसना (जिह्वा) का बोधक है स शब्द जिह्वा से उच्चारित वाणी का द्योतक है । जो जिह्वा और वाणी दोनों का भक्षण (नियन्त्रण) करता है अर्थात् जो वाणी का संयम रखता है उसे मांस भक्षी कहा जाता है । मांस माने वाक्संयमी न कि पशुपक्षियों की हत्या से उत्पन्न आमिष ।

एवमेव कुलार्णवतन्त्रेऽपि- **पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।**
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते ॥
ज्ञान खड्ग से योगवित् पाप पुण्य पशु मारि ।
परब्रह्म में रखे चित्त तेहि जाने मांसाहारि ॥

इसी प्रकार कुलार्णवतन्त्र में भी- ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा कर्मबन्धनात्मक पुण्य और अपुण्यमय पशु को मारकर परब्रह्म में जो अपने मन को लगाता है विलीन करता है वही मांस भक्षी कहा जाता है न कि जीवमांस भक्षण करने वाले ।

भैरवयामल तंत्र में भी लिखा है- पशु हिंसा से विमुख व्यक्ति भगवान् शंकर के ही समान महान् आत्मा है ।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मांस भक्षण राक्षसी कर्म है । योगि जनोचित कर्म नहीं ।

जो लोग तन्त्र के ब्याज से अथवा अपने धर्म के व्यवसाय से जीवों की हत्या करके उनके मांस से देवताओं के नैवेद्य के बहाने अपने उदर का भरण और अपने मांस भक्षण की प्रवृत्ति का पोषण करते हैं वे निश्चय ही मनुष्य शरीर से राक्षस ही हैं नर शरीर से आछन्न होकर घूम रहे हैं ।

इसी प्रकार मत्स्य शब्द का भी विवेचन है । इस शरीर में इड़ा पिंगला नामक गंगा यमुना के बीच में दो श्वास प्रश्वास रूपी मत्स्य हैं । जो साधक प्राणायामादि मत्स्यवेधी वंशी के द्वारा मत्स्यों को बेंधकर और कुम्भक के द्वारा उसको रोककर सुषुम्ना के मार्ग से प्राण वायु को चलाता है उसे मत्स्यभक्षी कहा जाता है ।

(आगमसारे-) **"गङ्गायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा ।**
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः ॥"

(कुलाऽर्णवे च-) "**मानसादीन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत् ।**
स मीनाशी भवेद्देवि ! इतरे प्राणिहिंसकाः ॥"

आगमसार में कहा गया है- इड़ापिंगला रूपी गंगा यमुना के मध्य में श्वास प्रश्वास रूपी दो मछलियां सदा विचरण करती है इन दोनों को प्राणायाम के द्वारा नियन्त्रित करके सुषुम्णा मार्ग से चलाता है वही मत्स्यसाधक है ।

कुलार्णव में भी- मन आदि इन्द्रियों को संयत करके जो उनको आत्मा में लगाता है वही मत्स्य भक्षी है दूसरे प्राणी हिंसक है ।

मत्स्य की तरह नितान्त चंचल ग्यारह इन्द्रियों को वश में करके इनको अपने-अपने कार्यों से विमुख बनाकर आत्मा से जोड़ देना ही इनका भक्षण है । इन्द्रियों को बहिर्मुख करना ही हिंसा है न कि जलचर प्राणियों का हनन । उनको आत्मा में लगाना ही भक्षण है उस कर्म को करने वाले को मत्स्य भोजी कहते हैं ।

(उक्तञ्च-) "**मनसा चेन्द्रियग्रामं संयोज्यात्मनि योगवित् ।**
(मेरुतन्त्रे-) **मत्स्याशी च भवेद्देवि शेषा धीवरवृत्तयः ॥**"

मेरुतन्त्र में कहा गया है कि हे देवि ! जो योगवेत्ता मन के सहित इन्द्रियों को आत्मा में लगाता है वही मत्स्यभक्षी है शेष सभी धीवरवृत्ति वाले हैं ।

भैरवयामले च- "**अहङ्कारो दम्भो मद पिशुनता मत्सर द्विषः,**
षडेतान् मीनान् वै विषय हर जालेन विधृतान् ।
पचन्सद्विद्याऽग्नौ नियमितकृतिर्धीवरसृतिः,
सदा खादेत् सर्वान्न च जलचराणान्तु पिशितम् ॥"

भैरवयामल में भी उल्लेख है- अहंकार, दम्भ मद पिशुनता मत्सर और द्वेष इन छः शत्रुओं को विषय निवृत्ति के जाल द्वारा पकड़कर तथा ज्ञान से नियंत्रित कर सदा भक्षण करना चाहिये । यही मत्स्य भक्षण है । जलचर मछलियों के भक्षण की आज्ञा शास्त्र कदापि नहीं देता । ये अहंकारादि छः शत्रु रूपी मत्स्य ही सर्वदा भक्षण के योग्य हैं उसी से अलौकिक आध्यात्मिक सिद्धि सुलभ है शास्त्रों में सर्वत्र ही परोक्षवाद प्रदर्शित किया गया है ।

इस प्रकार श्रीरामानन्द स्वामी के मुख से अपने सिद्धान्त की ऐसी दुर्गति देखकर अपने मन में नितान्त खिन्न और उदास दुर्जनानन्द अपने भक्त मण्डल के सामने अपने गौरव की रक्षा के लिये बनावटी अट्टहास करता हुआ बोला-

दुर्जनानन्द- अरे नवीन संन्यासी ! अभी तो तुम अबोध हो । तन्त्र शास्त्र के विषय में ज्ञान नहीं रखते हो । हमारी तान्त्रिक पद्धति सरलता से समझ में आने वाली नहीं है । सामान्य लोग इसे समझ नहीं सकते । यह गूढ़ विषय है । साक्षात् दयासागर भगवान् शंकर ने गुप्त एवं रहस्यमयी इस पद्धति का प्रकाशन किया है । अतः गुरुओं द्वारा ही जानने योग्य है । अपूर्व फलदायिनी है । प्रत्यक्ष दर्शन से तो पशु बुद्धि वालों की दृष्टि में यह पद्धति व्यभिचारमयी प्रतीत होती है किन्तु यह प्रकृति पुरुष के सम्भोग से युक्त सृष्टि क्रम की आधारभूत महान्फल देने वाली सकल मनोरथ प्रदात्री कौली रीति (पद्धति) है । आप जैसे गृहस्थ धर्म के अनुभव से रहित एवं तत्त्व ज्ञान से रहित लोगों की समझ में यह कैसे आ सकती है यह पद्धति महान् योगियों तथा भोगियों के हृदय में अपूर्व आनन्द भरने वाली ब्रह्मानन्द सहोदरा भगवान् शंकर से उत्पन्न अत्यधिक आनंददायिनी समस्त चिन्ता शोक नाशिनी अखण्ड चैतन्य की प्रकाशिनी ब्रह्म की एकता का आभास देने वाली महान् तेज को प्रकाशित करने वाली तत्त्व को न जानने वाले तुम्हारे द्वारा हास्यापद क्यों हो रही है । यह सुनकर श्रीरामानन्द स्वामी ने कहा-अपने स्वरूप के अनुसार आपने सत्य ही कहा है । किन्तु यह खेद का विषय है कि पाखण्ड के प्रचार में निपुण, धूर्तों के द्वारा देव पूजा के बहाने ईश्वर की आराधना को आगे करके धार्मिक कृत्य के छल से संसार में फैलायी गयी इस संस्कृति से दुष्कर्म एवं दुराचार के पोषक तत्त्वों को महत्त्व देकर अपनी कुत्सित एवं कामुक प्रवृत्ति का ही पोषण किया जा रहा है । अतः मैं आपसे ही यह पूँछना चाहता हूँ कि क्या किसी भी धर्म का रक्षक या ईश्वर किसी भी अपने अनुयायी को लौकिक मद्य मांसादि भक्षण का उपदेश दे सकता है ? अथवा बन्धन मुक्त स्पष्ट रूप से मैथुनादि कार्य करने या कराने के लिये कह सकता है ? अपने शिष्य को इस प्रकार के दुराचार में प्रवृत्त कराने वाला गुरु क्या अपना और शिष्य का कल्याण कर रहा है मुक्ति प्रदान कर रहा है ? कदापि नहीं ।

दुर्जनानन्द- तो क्या हम अथवा हमारे पूर्वाचार्य महाकौल सभी विवेकहीन ही थे । आपका क्या अभिप्राय है ?

श्रीरामानन्द-वे बोले लोग उस प्रकार के थे या नहीं यह भला कौन कह सकता है । आप अथवा आपके अनुयायी स्वेच्छानुसारी जिस प्रकार पंच मकारों का समुपयोग कर रहे हैं अपनी इन्द्रियों की लालसा की तृप्ति के लिये जैसा व्यवहार कर रहे हैं वह अवश्य ही दुर्बुद्धि पूर्वक एवं अज्ञान पूर्वक किया जाने वाला दुष्कृत्य है केवल आपका वह कुत्सित स्वार्थ है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

दुर्जनानन्द- यदि ऐसा है तो तुम्ही बताओ इस मत में मुद्रा किसका नाम है ?

श्रीरामानन्द- विजय तंत्र में मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार है-

'सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिरसत्सङ्गेन बन्धनम् ।
असत्सङ्ग मुद्रणंयत् तन्मुद्रापरिकीर्तिता ॥'

सत्संग से मुक्ति होती है और असत्संग से बन्धन । अतः असत्संग का जो मुद्रण है त्याग है वही मुद्रा कही जाती है ।

अर्थात् असत् का संग छोड़ देना ही मुद्रा है ।

मेरुतन्त्रेऽपि- **'आत्मनो जायते मोदस्ता मुद्राः परिकीर्तिताः ।**
ता ज्ञेया धारणा ध्यानसमाध्याख्यास्तु मोक्षदाः ॥'

मेरूतन्त्र में भी- जिससे आत्मा को प्रसन्नता प्राप्त हो उसी को मुद्रा कहते हैं वे हैं मोक्षप्रदान करने वाले धारणा, ध्यान, समाधि ।

कुलार्णवतन्त्रे च-

'सहस्त्रारे महापद्मे कार्णिका मुद्रितश्चतरेत् ।
आत्मा तत्रैव देवेशि ? केवलः पारदोपमः ॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्रकोटिसुशीतलः ।
अतीव कमनीयश्च महाकुण्डलिनी युतः ।
यस्यज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते ॥''
सहस्त्रार के मध्य में ब्रह्म मुद्रिका होय ।
पारे जैसा जीव तंह रहै स्वच्छ सब खोय ॥

सूर्यकोटि सम तेज है शशि सम शीतल रंग ।
शोभित अतिकमनीय जो महा कुण्डली के संग ॥
एहि विधि साधन से सुनो ज्ञान उदय जब होय ।
मुद्रा साधक तेहि गनो साधक चतुर है सोय ॥

कुलार्णव तन्त्र में भी उल्लेख है कि-सहस्त्रदल महापद्म में मुद्रित कर्णिका में विशुद्ध पारे के समान आत्मा रहती है । उस आत्मा का तेज कोटि सूर्यों के समान है और करोड़ों चन्द्रों के समान शीतल वह आत्मा है आत्मा कुण्डलिनी शक्ति से युक्त है । ऐसी आत्मा का प्रकाश या ज्ञानोदय जिस योगी में होता है । आत्मा का कुंडलिनी शक्ति से सम्पन्न योगज ज्ञान ही मुद्रा ज्ञान कहलाता है ।

अब आप ही विचार करें कि शास्त्रोक्त एवं विशुद्ध भाव परिपूर्ण मकार का आप किस प्रकार दुरुपयोग कर रहे हैं ? आपके द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला मुद्रा नामक मकार कितना पतित गलित और कुरीति युक्त है ? भोगियों से भी अधिक दुराचार करते हुये आप सभ्य समाज में प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

इसी प्रकार पंचम मकार मैथुन भी आपके स्वीकृत अर्थ से एकदम अलग है । आपका अर्थ नितान्त अशिष्ट एवं दूषित है । आपके द्वारा प्रयुक्त मैथुन नरक का द्वार है । इसका कथन भी व्यभिचार रूप ही है । यह अति तुच्छ जनों द्वारा सेव्य कुकर्ममय एवं सभ्यजनों द्वारा बहिष्कृत है ।

मैथुन शब्द का अर्थ लौकिक स्त्री पुरुषों का समागम कदापि नहीं हो सकता । और न ही इसका आशय इन्द्रिय लोलुपता है । इन्द्रिय संयम के साथ पूर्णानन्द का द्योतक यह क्रियाकलाप योगियों को मान्य है । मेरुतन्त्र में-

मेरुतन्त्रे- **'इडापिङ्गलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्त्तयेत् ।**
'सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः ।
तयोस्तु सङ्गमो देवाः सुरतं नाम कीर्तितम् ॥''

अर्थात् सुषुम्ना नामकी शक्ति ही स्त्री रूप में है और प्राण रूप शिव ही पुरुष हैं उन दोनों का परस्पर संगम ही मैथुन कहलाता है ।इड़ा और पिंगला के प्राणों को सुषुम्ना में प्रवर्तित करें, सुषुम्ना ही शक्ति कही गयी है और यह जीव परात्पर शिव कहे गये हैं हे देवताओं ! सुषुम्ना और जीव का

संगम ही सुरत कहा गया है अर्थात् सुषुम्ना शक्ति स्त्री स्वरूपा है औरं प्राण स्वरूप शिव पुरुष स्वरूप है उन दोनों का संगम ही मैथुन है तन्त्रोक्त कोई दूसरा मैथुन नहीं है । इड़ा-पिंगला नाम की दोनों नाड़ियों में प्रवाहित प्राण का सुषुम्ना के साथ संगम ही तान्त्रिकों को अभिमत है मैथुन का आशय आपके द्वारा आचरित व्यभिचाररूप पापमय नरक का दरवाजा । स्पष्ट रूप से वही पर प्रतिपादित किया है । यही इति कर्म है प्राकृत दूसरा मैथुन तो गधे का है । वो निषिद्ध है ।

भैरवतन्त्रे- **'या नाडी सूक्ष्मरूपा परम्पदगता सेवनीया सुषुम्ना,**
सा कान्ताऽऽलिङ्गनार्हा, न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित् ।
कुर्याच्चन्द्राऽर्कयोगे युग-पवन-गते, मैथुनं, नैव योनौ,
सूर्याचन्द्रौ स्वराख्यौ श्वसनगतिमयौ सङ्गतौ चेत् तदा तत् ॥

भैरव तन्त्र में कहा गया है- परमानन्द को प्राप्त सूक्ष्म रूप सुषुम्ना नाडी ही परम रमणी है । वहीं पुरुष के आलिंगन योग्य एवं सेवन योग्य है । कोई मानव कामिनी नहीं । पर ब्रह्म के साथ सुषुम्ना का संगम ही मैथुन है । स्त्री पुरुषों का संभोग नहीं ।

इसीलिए परमानन्द को प्राप्त सूक्ष्मरूप सुषुम्नानाड़ी ही पुरुष के आलिंगन के योग्य सेवन योग्य परम रमणी है मानवी सामान्य स्त्री रमण के योग्य नहीं है परब्रह्म के साथ सुषुम्ना का संगम ही मैथुन है न कि पुरुष का संभोग ।

(विजयतन्त्रेऽपि) **'कुल कुण्डलिनी शक्तिः देहिना देहधारिणी ।**
तथा शिवस्य संयोगे मैथुनं परिकीर्तितम् ॥'
''अयं सर्वोत्तमो धर्मः शिवोक्तः सर्वसिद्धिदः ।
जितेन्द्रियम्य सुलभो नाऽन्यस्यानन्त-जन्मभिः ॥''

विजयतन्त्र में भी- जीवों के शरीर को धारण करने वाली कुण्डलिनी शक्ति स्त्री है । उसका शिव के साथ संयोग होना ही मैथुन है अर्थात् प्रत्येक शरीर में विद्यमान कुण्डलिनी शक्ति का मस्तक में विद्यमान सहस्त्र दल कमल में स्थित शिव के साथ संयोग ही मैथुन है न कि लौकिक । और भी वाममार्ग के विषय में तन्त्रों में लिखा है वह आपके विरुद्ध ही है- सर्वसिद्धि को देने

वाला भगवान् शिव से उक्त यह सर्वोत्तम धर्म जितेन्द्रिय को ही सुलभ है अन्य किसी और को अनन्त जन्मों में भी सुलभ नहीं है ।

मेरे विचार से यह सब आप भी जानते हैं किन्तु स्व इन्द्रिय लोलुपता को न छोड़ते हुये अपने ज्ञान के विपरीत स्वार्थान्ध होकर जानते हुये भी न जानने का अभिनय करते हैं ।

पृच्छामि त्वाम्- **'मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेत वै ।**
मद्यपानरताः सर्वे सिद्धि गच्छन्तु पामराः ॥
''मांस भक्षणमात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत् ।
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजो भवन्त्विह ॥''

कुलार्णवे तु स्पष्टम्- **''सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षपेत्,**
मुखे तया विनिर्दग्धे ततः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

तन्त्रसारे च- **''अर्थाद्वा कामतो वापि सौख्यादपपि च यो नरः ।**
लिङ्गयोनिरतोमन्त्री रौरवं नरकं व्रजेत् ॥

मैं तुमसे यही पूँछता है कि यदि मद्यपान से मांस भक्षण से, सिद्धि मुक्ति या पुण्य मिलता होता तो सभी तुच्छ एवं पामर जन सिद्ध हो गये होते । मांस भक्षण मात्र से यदि पुण्यगति होती तो इस संसार में सभी मांस भक्षी पुण्य के भागी हो जायं । कुलार्णव में तो स्पष्ट है-सुरापान करने पर और मैथुनादि करने पर उसको जलती हुई आग में फेंक देना चाहिए उससे मुख के दग्ध होने पर शुद्धि होती है । चाहे धन के लोभ से कामवश अथवा सुख प्राप्ति के लोभ से लिंग और योनि के चक्कर में जो पड़ता है वह रौरवनरक में जाता है ।

इससे स्पष्ट है कि आपके द्वारा अभिमत मद्य, मांस मैथुनादि प्रकार सर्वथा अनर्थकारी एवं नरक को ले जाने वाले हैं । आत्म कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को इनका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये ।

वस्तुतः कौल कैसा होता है इसका विवेचन करने के पश्चात् मैं यह निवेदन करता हूँ कि आप भी दुराचार प्रवर्तक इस पथ को छोड़कर सभी लोगों के अनुयायियों के तथा अपने भी कल्याण के लिये पाखंड तांडव परित्यागपूर्वक सत्य, धर्ममय कल्याणमय मार्ग दूसरों को दिखाते हुये स्वयं भी ऐसे बन जायें यही मेरी प्रार्थना है । कहा भी गया है-

विश्वसारतन्त्रे- **''कर्दमे चन्दने देवि पुत्रे शत्रौ प्रियाप्रिये,**
कौलस्वरूपं- **''श्मशाने भवने चैव तथैव तृण काञ्चने ।**
निरूपितम्- **''न भेदो यस्य देवेशि ! स एव कौलिकोत्तमः ।**
''चिन्तयेदात्मनाऽऽत्मानं सर्वत्र समदृष्टिवान् ॥ इति ॥

विश्वसार तन्त्र में कौल के स्वरूप का वर्णन है- कीचड़ में, चन्दन में, पुत्र में, शत्रु में, प्रिय और अप्रिय में श्मशान में, भवन में तृण एवं कंचन में जो किसी प्रकार का भेद नहीं करता वही सर्वोत्तम कौलिक है ।

इस प्रकार अपनी शिष्य मण्डली के सामने ही अपने सिद्धान्त का खण्डन सुनकर दुर्जनानन्द की दुष्टता स्वयं प्रकट हो गयी । क्रोधावेश से तथा अभी अभी हुये अपमान से सभ्य जनोचित शिष्टाचार छोड़कर मद्य मांस जनित दुर्गन्ध छोड़ते हुये फड़कते हुये होठों वाला वह दुर्जनानन्द बोला-अरे ! अपने को पण्डित मानने वाले संन्यासी ! मैं केवल तुम्हारे गुरुजी के सम्मान को देखते हुये ही मौन धारण किये हूँ । अन्यथा दुर्जनानन्द के सामने अनर्गल प्रलाप का क्या फल होता है इससे सभी लोग भलीभाँति परिचित हैं । मात्र एक बार के ही मन्त्रोच्चारण से तुम्हें समाप्त कर सकता हूँ ।

तदनन्तर अपने भक्तों को सम्बोधित करते हुये बोला-आप सभी बतलायें-जो अपने धर्म की निन्दा करे उसको किस प्रकार का दण्ड देना चाहिये ? भक्त मौन ही रहे कुछ भी नहीं बोले । कारण यह था कि श्रीरामानन्द स्वामी के विशिष्ट विवेचन का प्रभाव चारों ओर पूरी तरह से सभी के ऊपर पड़ा था । सभी बुद्धिजीवियों के मन में सत्य वस्तु का स्वरूप भलीभाँति प्रकाशित हो गया था प्रतिष्ठित हो गया था । सभी के ज्ञान चक्षु खुल गये थे । सभी अपने पक्ष के लोगों को मौन बैठे देखकर दुर्जनानन्द नितान्त लज्जित हुआ और किं कर्त्तव्य विमूढ़ सा हो गया । उस समय एक शिष्य ने कहा-धर्मावतार गुरुदेव ! इस प्रकार के धर्म की निन्दा करने वाले व्यक्ति को तो मार देना चाहिये । अन्यथा की स्थिति में हमारी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा को आघात लगेगा । दुर्जनानन्द-यह सत्य है हमारी परम सम्मान्य पञ्चमकारों की धार्मिक प्रक्रिया को व्यभिचार बतलाने वाला यह पापात्मा अवश्य ही वध के योग्य है । अतः मैं ऐसा ही करने जा रहा हूँ । शक्ति पराम्बिका की जय हो-यह कहकर तलवार लेकर श्रीरामानन्द की ओर

दौड़ता हुआ मारने के लिये जैसे ही उद्यत हुआ वैसे ही दुर्जनानन्द के चारों ओर स्थित उसके ही शिष्य सहसा भीषण गर्जना के साथ बोल उठे-सावधान दुर्जनानन्द ! अब एक पैर भी आगे मत बढ़ाना, नहीं तो तुम्हारी कुशल नहीं है । तनिक भी अपशब्द निकाले तो कल्याण नहीं, हिंसा करना तो बहुत बड़ी बात है । श्रीस्वामी रामानन्द जी सत्य ही कह रहे हैं तुम जैसे पाप बुद्धि वाले गुरु ने सचमुच हम सब लोगों के जीवन को नरक बना दिया है । धर्म की आड़ में अधर्म ही करवाया है तथा किया है । इस दम्भ एवं पाखण्ड का फल तुम्हें अभी ही यहीं मिल जायेगा-यदि अब तुम तनिक भी अनुचित व्यवहार करते हो ।

इस प्रकार उसी के सभी शिष्यों के द्वारा दुर्जनानन्द की भर्त्सना की गयी । अतः तलवार को स्व स्थान में सुरक्षित कर वह लज्जा एवं तिरस्कार से अत्यधिक व्यथित होता हुआ कुछ भी नहीं बोल सका । वे सभी उसके शिष्य स्वामी रामानन्द की ही शरण में पहुँच गये । प्रार्थना करते हुये बोले- आप जैसे सद्गुरु ने अब हमें सत्य मार्ग दिखलाया है, और दुर्जनानन्द रूपी अंधकार से आवृत्त हमारे चक्षुओं को खोल दिया है । हम सब को नरकगामी होने से बचा लिया है ।

बाईसवाँ परिच्छेद

एक बार अनेक विद्वानों एवं देवताओं से सेवित, अनन्त पुण्योंके फलोदय से प्रकटित भगीरथ की तपस्या के प्रभापुञ्ज से आगत जह्नु कन्या भगवती भागीरथी के सुखद सरस तट पर स्थित परम रम्य एकान्त शान्त आश्रम में बाह्य जगत के कार्य व्यापार से विमुख सुलभ समाधि योग में स्थित इन्द्रिय व्यापार से विरत जगदाधार पर ब्रह्म के ध्यान में श्रीरामानन्द जी निलीन थे।

उसी समय चिरकांक्षित एवं स्वाभि लषित अवसर को प्राप्त कर अपने अपमान से उत्पन्न कुटिल कुभावना के कारण साक्षात् पापावतार मानवाकृति में दानव के समान आचरण वाला दुष्ट दुर्जनानन्द स्वामी रामानन्द के वधरूपी कुकृत्य हेतु वहाँ आ पहुँचा। सौहार्दभाव सम्पन्न समाधि में स्थित श्री स्वामी रामानन्द को देखकर अपने अन्त:करण में स्थित दुर्भावना को प्रबल बनाकर बैर का बदला लेने का अवसर प्राप्त होने पर भी वध के लिये उठाये गये अस्त्र शस्त्र स्वत: उसके हाथ से गिर गये। जब वह वध में असमर्थ हो गया तब संयोग सेकोई भयंकर सर्प जो अपनी चञ्चल जिह्वा को लपलपा रहा था उसे दिखाई पड़ा। अहितुण्डिक मन्त्र के ज्ञाता दुर्जनानन्द ने उस विषैले सर्प को हाथ से पकड़कर श्रीरामानन्द स्वामी के कन्धे पर डाल दिया। तदनन्तर एक ओर बैठकर अपने द्वारा किये जाने वाले कुकर्म के फल को अपनी ही आँखों से देखने की इच्छा करता हुआ सर्प के विषम विष सेविषाक्त होकर स्वामी रामानन्द के प्राणों के निकलने की प्रतीक्षा करने लगा। किन्तु इस प्रयास में भी वह सफल नहीं हो सका। श्रीरामानन्द स्वामी की गर्दन का संस्पर्श प्राप्त कर उस सर्प के सभी दुरित विनष्ट हो गये और सर्प शरीर छोड़कर वह प्रसून माला की आकृति धारण करता हुआ श्री स्वामी के वक्ष:स्थल का शृंगार बन गया। यह देखकर म्लानमुख वह दुर्जनानन्द चुपचाप समाधि स्थल से बाहर चला गया।

इस प्रकार अपने सभी प्रयत्नों को निष्फल देखकर ईर्ष्या से जलता हुआ दुर्जनानन्द सोचने लगा कि मेरे द्वारा वैर का बदला लेने के लिये किये

गये सभी प्रत्यक्ष उपाय निष्फल हो गये । अत: अब परोक्ष पद्धति से अपने कोप को प्रकट करने की इच्छा से उसने अत्यन्त निन्दनीय अभिचार विद्या (जादू टोना) का आश्रय लेकर मायारूपी अग्नि का वर्षण प्रारम्भ कर दिया । किन्तु वह प्रयोग भी असफल रहा । उस समय स्वामीजी तो स्वयं ही ज्योतियों की भी महाज्योति (परब्रह्म) में निलीन थे । यह अभिचार की अग्नि भला अपने उपासक को ताप देने में कैसे समर्थ हो सकती है ।

अभिचार (मायाजाल) प्रयोग में निपुण वह मायावी कभी हड्डी कभी मांस कभी रुधिर कभी मज्जा बरसाने की क्रियायें करता रहा । किन्तु ये सभी प्रयोग विफल हो गये । क्योंकि स्वामी श्रीरामानन्द 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' की सफल स्थिति में स्थित थे । कभी भी किसी का भी किसी प्रकार का अहित उनसे हुआ ही नहीं था । उस दुरात्मा की सभी चेष्टायें उस समय महान् तेज में स्थित विशुद्ध हृदय उस महात्मा के लिये बाल विनोद की तरह हास्यास्पद प्रतीत हो रही थीं । उसके द्वारा की गयी उस प्रकार की मांस रक्त आदि की वृष्टि भी उन स्वामी रामानन्द जी के ऊपर सुरभित सुमनों की वृष्टि के समान सिद्ध हुई ।

इस प्रकार दुर्जनानन्द जब बारम्बार अपने अभिचार प्रयोग में असफल होता रहा तब या तो मैं अपना कार्य सिद्ध करूँगा या फिर जीवन ही त्याग दूँगा इस सिद्धान्त को स्थिर कर श्रीरामानन्द के वध की इच्छा से वामाचार पद्धति से तलवार को हाथ में लेकर स्वयं अपने हाथों से ही उनका शिर काटने के लिये स्वामी रामानन्द के सामने उपस्थित हो गया । उसी समय श्रीरामानन्द की समाधि भी पूर्ण हो गयी । भगवान् की लीला अतीव विचित्र है तप का प्रभाव अचिन्तनीय है और भगवान् द्वारा भक्त का संरक्षण भी अतीव अद्‌भूत है । समाधि समाप्त होने पर श्रीरामानन्द स्वामी ने इस स्थिति में दुर्जनानन्द को देखकर उसके भाव को समझकर स्नेहपूर्वक मन्द हास्य करते हुये उल्लासपूर्वक धैर्यपूर्वक और आश्चर्यपूर्वक बोले-

श्रीस्वामी-भगवन् ! कौलाचार्य श्रेष्ठ दुर्जनानन्द ! आज मद्य की उपासना को परित्याग कर असमय में तलवार को लेकर आप अकेले में मेरे ऊपर कृपा करने के लिये कैसे चले आये ?

दुर्जनानन्द- (क्रोध के साथ भर्राई हुई आवाज में) कहा अपने धर्म की निन्दा करने वालों को मारने के लिये । हाथ में स्थित हमारा यह खड्ग कौल धर्म के निन्दक का रक्त पीना चाहता है । यह खड्ग भगवती की चंचल रसना (जिह्वा) ही है जो अपने कार्य को पूर्ण करने हेतु उद्यत है ।

श्रीरामानन्द स्वामी- अरे ! धर्माचार्यों का शास्त्रोपदेश ही हृदय के विशेष क्लेश का निवारक हुआ करता है शस्त्रों का उठाना नहीं ।

दुर्जनानन्द-नीतिशास्त्र की आज्ञा यही है-कि दुष्ट के साथ दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिये ।

श्रीस्वामी- यह सब हम जैसे लोगों के लिये नहीं है । यह कर्म तो उनके लिये है जिनका नैतिक बल अथवा तपोबल हीन और क्षीण हो उनका यही सहारा है ।

दुर्जनानन्द- व्यर्थ की बात मत करो । तुम्हारे प्राणों के हरण करने का आज ही यह सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है इसी तलवार से तुम्हारा वध करके किये हुये अपमान का बदला लूँगा ।

ऐसा कहकर वह अधम दुर्जनानन्द अपनी दुर्जनता प्रकट करता हुआ उनको (स्वामी जी को) मारने के लिये उद्यत हुआ । स्वामी रामानन्द तो शान्त गम्भीर मुद्रा में सर्वत्र समदर्शी भगवान् का ही ध्यान करते हुये 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' अहमेवाक्षयः कालः इस पर दृढ़ विश्वास करते हुये स्थिर रहे हिले डुले नहीं । भगवान् की कृपा से महान् पुरुषों के प्रति किया जाने वाला अभिचार (मायावीकृत्य) अपने ऊपर ही पड़ता है इस नियम के अनुसार वह दुर्जनानन्द वहाँ की ऊँची नीची जमीन से अनभिज्ञ आक्रोशपूर्वक दौड़ता हुआ शीघ्र ही एक गड्ढे में गिर गया हवन कुण्ड के पास उसकी गति लड़खड़ा गयी तलवार हाथ से नीचे गिरी उसके ऊपर वह स्वयं गिरकर यमलोक पहुँच गया और मुक्त हो गया ।

तेईसवाँ परिच्छेद

शान्तिखड्गं करे यस्य दुर्जनःकिं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥
शान्ति खड्ग करमे धरैतो दुर्जन क्या कर पाय ।
तृण पर अग्नि पडै नहीं (तो) स्वयं शान्त होई जाय ॥

दुर्जनानन्द की अद्‌भूत मृत्यु सुनकर तथा स्वामी रामानन्द के तप के प्रभाव को देखकर सर्वत्र काशी के कोने-कोने में रामायण की कथा की भाँति प्रतिगृह एवं प्रतिमुख में परमाद्‌भुत चमत्कारमय यह घटना सर्वत्र विद्युत प्रकाश की भाँति फैल गयी । चारों ओर फैली हुई इस घटना का व्याकोप उसके (दुर्जनानन्द) के शिष्यगण के बीच भी फैल गया ।

श्रीरामानन्द स्वामी के द्वारा किये गये प्रश्नोंका उत्तर देने में असमर्थता के क्षोभ से उत्पन्न महान् क्रोध के कारण हतबुद्धि वाले अपने शिष्यमण्डल के समक्ष शठता प्रकट कर देने वाले श्रीरामानन्द स्वामी के वध का निश्चय कर लेने वाले हाथ में तलवार लेकर ऐसे भयंकर क्रूर कर्म के आचरण में प्रवृत्त होकर उनके (स्वामी रामानन्द के) ऊपर प्रहार करने हेतु उद्यत उस दुर्जनानन्द के सहसा वेग के कारण असन्तुलित होकर अपने हाथ में स्थित ऊर्ध्वधार वाली तलवार के ऊपर गिर जाने से शरीर के दो टुकड़े में विभक्त हो जाने वाले तान्त्रिक कुलाचार्य प्रवर अपने गुरु दुर्जनानन्द के प्राण निकल जाने के वृत्तान्त को सुनकर व्याकुल चित्त वाली क्रोधावेश में विवेक खो देने वाली प्रतिदिन मद्यपानादि के उन्माद से हास्य सुख में लीन रहने वाली दुर्जनानन्द के शिष्यों की मण्डली जो पापाचार का प्रचार प्रसार कर रही थी, परस्पर एकत्र होकर अपने गुरु के प्रतिशोध स्वरूप स्वामी रामानन्द के वध के लिये शस्त्र लेकर सहसा वहीं पहुँच गये जहाँ रामानन्द स्वामी समाधि में ब्रह्म लीन थे ।

एक बार सकल कलिकल्मष अपहारिणी सम्पूर्णजन कल्याणकारिणी शरणागत जनतारिणी श्रीशिवजटाविहारिणी भगवती भागीरथी के तट पर लतावितान से सुशोभित अनेक लघु पादपों से आच्छादित कुटीर में भक्तों के

संरक्षण में तत्पर श्रीरामस्वरूप श्रीरामानन्द स्वामी को अकेला देखकर अपने क्रूरकर्म के अनुकूल प्रतिशोध हेतु सुलभ अवसर प्राप्त कर दुर्जनानन्द की शिष्य मण्डली स्वामी रामानन्द के वध की कामना से शस्त्राघात के पाप से भयभीत एवं उनके तेज से कुण्ठित बुद्धि वाले वे लोग शस्त्र उठाना छोड़कर समाधि में बैठे हुये श्रीरामानन्द को उठाकर गंगा की धारा में प्रवाहित कर देने के लिये अनेक उपाय किये । जब सभी लोग मिलकर भी उनको उठा नहीं पाये उनके प्राण हरण के लिये जैसे ही वे प्रवृत्त हुये ही थे कि, उसी समय श्रीरामानन्द स्वामी समाधि से उठ गये । उनके नेत्र कमल विकसित हो गये । उन सबको ऐसी चेष्टा करते हुये देखकर सस्मित वदन, प्रशान्त एवं गम्भीर मुद्रा में स्थित निर्भय एवं निःशंक भाव से बोले-महोदय ! हाथों में शस्त्र लेकर सभी लोग एकत्र होकर आज क्रोधावेश में इस कुटीर पर क्यों उपस्थित हुये हैं ?

ऐसा सुनकर स्वभाव से ही कुटिल दुष्टात्मा अत्यधिक मदपान से लाल नेत्र वाले दुर्गन्धि युक्त मुख वाले मदान्ध दुर्जनानन्द के मुख्य शिष्य लाल लाल आँखें निकालकर मदपान के नशे से चूर होने के कारण अनर्गल प्रलाप करते हुये बोले-

अरे दुष्ट संन्यासी ! अपने धर्म कर्म में परायण साक्षात् भैरव की ही प्रतिमूर्ति हमारे गुरु श्रीदुर्जनानन्द महाराज का वध तुम्हीं ने किया है और अब यहाँ छिपकर कुटी में समाधि के बहाने से हम सबको धोखा दे रहे हो अब तुम्हारा कल्याण नहीं है । हम सब तुम्हारे वध के प्रयास में है और संसार से तुम्हारा अस्तित्व समाप्त करने के लिये ही आये हैं । तुमने सोते हुये सिंह को जगा दिया है और त्रस्त किया है । मूढ़ ! अब उसका फल भोगो । उन्हीं के शिष्य हम इस तलवार से तुम्हारे शिर को काट कर गेंद की तरह खेल-खेल में उछालते हुये अपने गुरु की हत्या का बदला लेंगे । अतः सावधान हो जाओ-

इसके बाद क्षमा का भाव प्रकट करते हुये श्रीरामानन्द स्वामी ने कहा-अरे दयादाक्षिण्यादि गुणों से युक्त मनुष्यों ! तुम लोग व्यर्थ में ही अपनी क्रोधाग्नि से अपने को ही भस्म करने में क्यों लगे हो ? अब भी आप लोग वास्तविक तत्त्व से विमुख रहकर शठता का आचरण क्यों कर रहे हो ? विज्ञान रूपी कल्पवृक्ष की शीतल छाया का आश्रय लेकर विवेकपूर्वक

विचार क्यों नहीं करते हो ? इस संसार में न कोई किसी को मारता है न कोई किसी को जीवन दान देता है न कोई सुख दे सकता है और नहीं कोई दुःख । सभी अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही सुख, दुख, जन्म, मृत्यु, मान एवं अपमान प्राप्त करते हैं । न कोई किसीको कुछ देता है न लेता है कर्माधीन ही यह सब अपने आप प्राप्त हुआ करता है ।

क्योंकि-जो कुछ भी कर रहा हूँ वह मैं ही कर रहा हूँ-यह मिथ्या ज्ञान है और मिथ्याभिमान है । निरन्तर मिथ्याभिमान के मद से मोहित बुद्धि वाले एवं अहं भावना से युक्त अन्तः करण वाले व्यर्थ में ही पाप एवं पुण्य की गठरी अपने शिर पर लादे रहते हैं । संसार में जो कुछ भी होता है वह सब कर्मसूत्र से गुम्फित ही हुआ करता है । तथा हित या अहित के रूप में वहीं हमें प्राप्त होता है । मानव भी अपने कर्मानुसार इसको प्राप्त करता है । इसलिये आपके गुरु जी की मृत्यु का कारण मैं नहीं हूँ वरन् उनके अपने कर्म ही हैं ।

कौलशिष्य- भगवन् ! यदि कर्म ही मृत्यु के कारण हैं तो हमारे गुरु चरणों के कर्म तो अतीव पवित्र, धर्मयुक्त, शास्त्र सम्मत, लोककल्याणकारी, सर्व प्रिय उपासक जनों के लिये अनुकरणीय सब प्रकार से आनन्द युक्त तथा परम वन्दनीय थे ।

श्रीरामानन्द स्वामी- ठीक है, महोदय ठीक है । किन्तु आप लोग स्वयं ही विवेकदृष्टि से, निष्पक्ष भावना से और तत्त्व विवेचिनी दृष्टि से विचार करें तथा बतलायें- क्या रात दिन मद्यपान की दुर्गन्धि से युक्त मुख वाले लोग देवाराधन के योग्य हुआ करते हैं ? क्या इस प्रकार मद्यपान करना पवित्रतम कार्य माना जाय क्या मांस भक्षण धर्म सम्मत कार्य है ? और क्या नवयुवतियों के साथ धर्म की आड़ में व्यभिचार शास्त्र सम्मत है ? क्या इस प्रकार मद्य पीकर और पिलाकर उनको मदोन्मत्त बनाकर सामूहिक रूप से एकत्रित होकर उनके साथ नग्न केलि क्रीड़ा सभ्यजनोचित या जनहितकारी कार्य कहा जा सकता है ? आप लोग स्वयं अपनीआत्मा को साक्षी मानकर ईर्ष्या त्यागकर निष्पक्ष रूप से बतलायें क्या इस कृत्य को लोककल्याणकारी, नीति सम्मत, आदर्शभूत एवं प्रचार के उपयुक्त कहा जा सकता है ? लोक कल्याण की इच्छा रखने वाले आप लोग थोड़ा विचार करें क्या इस प्रकार के नैतिक पतन से जन समाज का हित सम्भव है ? यदि इस प्रकार के कर्म

से तनिक भी हित साधन की सम्भावना होती तो श्रुतियाँ इस प्रकार का निषेध क्यों करतीं ? कि "सुरापान मत करो, मांस मत खाओ, परस्त्रीगमन मत करो, पुरुषों एवं पशुओं की हिंसा मत करो।" इत्यादि इतना ही नहीं बल्कि शास्त्रों में तो सदाचार पर गूढ़ रहस्य के प्रकाशन के साथ-साथ सर्वाधिक बल दिया गया है। पग पग में सदाचार का वर्णन किया गया है। परन्तु जिस पद्धति का अनुसरण करके इस प्रकार के कार्य भोले भाले युवक-युवतियों एवं शिष्य प्रशिष्यों से कराये जाते हैं वह पद्धति ही स्वार्थपरक है, व्यभिचार की जड़ है। सदाचारी समाज के लिये कंटक है।

कौलशिष्य- भगवन् ! समाज के लिये यह पद्धतिकिस प्रकार कष्टप्रद है ?

श्रीरामानन्द- इन्द्रियादि विषयों से परे अत्यन्त उत्कृष्ट योगियों के द्वारा की जाने वाली पञ्च मकारोपासना परम निर्गुण एवं गूढ़ रहस्यमयी है। आप लोग अपनी इन्द्रियों की रूचि के अनुसार विषयोपभोग भावना से उन्मत्त होकर मद्य मांस सेवन के साथ-साथ नवयुवतियों से विलास करते हैं। धर्म की आड़ में नितान्त व्यभिचार रूपी अधर्म का आश्रय लेकर किये जाने वाले दुष्कर्मों का सेवन सत्कर्म जैसा फल कैसे प्रदान कर सकता है ? दुष्कर्मों का फल भी दुष्ट ही होगा। काँटों के बींज बोकर उनसे आम्र जैसे मधुर फलों के आस्वादन की कैसे आशा की जा सकती है ?

अत: आप लोग ही अपने-अपने हृदय में हाथ रखकर विवेक दृष्टि से देखें, विचार करें अपने आपको देशो द्धारक मानने वाले धर्माचार्य भी यदि स्वयं सत्य भ्रष्ट, सदाचारविहीन, व्यभिचार रत हो जायेंगे और अपने शिष्यों को भी व्यभिचार परायण बना देंगे। एवं अपने अनुरूप ही दुराचारों की दीक्षा देंगे। धार्मिक संस्कृति के विरूद्ध चलते एवं चलाते हुये अपने शिष्यों द्वारा भारतीय संस्कृति का अतिक्रमण करायेंगे। स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृंखलता करेंगे और भोग विलास की भावनाओं का पोषण करेंगे। समानाधिकार प्राप्ति के बहाने स्त्री समाज को कुलटा बना देंगे। विकासवाद की वाटिका में भी विनाश वाले पुरुषों का संवर्द्धन करेंगे। स्वयं दुष्कृत एवं व्यभिचार के बहुत बड़े दल दल में निमग्न रहकर अन्य अपने मतानुयायियों को भी कुटिल कुकर्म के कीचड़ भरे महान गर्त में गिराते हुये सर्वदा विपरीत प्रवृत्तियों के द्वारा देश, धर्म एवं स्वकीय समाज का कल्याण करने में क्या वे

समर्थ हो सकेंगे । क्या इस प्रकार की प्रवृत्तियों के द्वारा किसी भी देश या समाज का समुद्धार होते हुये आपने देखा है ? शास्त्रों में यही निर्देश है कि हमेशा सदाचार से ही समाज की समुन्नति हुई है और हो सकती है ।

किञ्च " **धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महत्फलम् ।** (महाभारते)

न तत्सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥ -शां० प० २९३

महाभारत में भी कहा गया है- धर्म से रहित जो कर्म है यद्यपि महान् फल को देने वाला है फिर भी बुद्धिमान् को उस कर्म को नहीं करना चाहिए वह हितकारी नहीं है ।

अत: धर्म की घोषणा करके किसी भी व्यक्ति को अधर्म में नहीं लगाना चाहिये । धर्म की आड़ में प्रजा को मांस, मद्य, मैथुनादि पतन के मार्गों पर तथा देश, धर्म एवं समाज के विपरीत दुराचारों के मार्गों पर चलने की शिक्षा नहीं देनी चाहिये । और न ही ऐसी बातों को जीवनोपयोगी बतलाकर उनके ऊपर झूँठी धार्मिक मुहर ही लगानी चाहिये ।

इस प्रकार श्रीरामानन्द स्वामी के द्वारा दिये गये प्रवचनों का प्रभाव उन सबके हृदयों में दृढ़तापूर्वक अंकित हो गया । धीरे-धीरे उनकी विचारधारा बदलने लगी । कौलाचारी वह दुर्जनानन्द का शिष्य भी स्तब्ध मान से नम्रतापूर्वक सद्भाव युक्त होकर प्रार्थना करने लगा ।

तर्हि भगवन् ! "**न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न मैथुने**" (मनु० ५ ५६)

इति कथमुक्तम् कश्चाऽस्याऽभिप्राय: ?

तो भगवन् ! मांस खाने मद्य पीने और मैथुन में कोई दोष नहीं है इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

श्रीरामानन्द-महोदय ! यह सब तो प्राणियों की प्रवृत्ति को ही प्रतिपादित करते हैं, आपके द्वारा मान्यता दिये जाने वाले स्वेच्छाचार को नहीं । शास्त्रों में तो प्राणियों की प्रवृत्ति का निर्देश करके उनका परित्याग करना ही कल्याणकारी है एवं महान् फल को देने वाला है, यही उपदेश किया गया है ।

तथाहि- "**प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥**" (मनु० ५।५६)

मनुस्मृति में वर्णन है- कि यह प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है इसका त्याग महानफलदायी है ।

जहाँ-जहाँ मद्य मांसादि शब्दों का उल्लेख किया गया है वहाँ सब जगह प्रसंग सन्दर्भ के भेद से और अधिकारी के भेद से ही किया गया है। राजसी एवं तामसी साधना में ही ऐसा विहित है। उत्तम सतोगुणी अधिकारियों के लिय यह मार्ग नहीं है। क्योंकि ऐसी साधना से अनर्थ होगा उसका परिणाम भी दुःखद होगा और सांसारिक प्रवृत्ति का ही वह निमित्त बनेगा। उससे मोक्षलाभ नहीं हो सकता। ना ही वे स्वर्गादि सुख के साधक होंगे।

इस प्रकार श्रीरामानन्द के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनों को सुनकर सभी कौलाचारी दुर्जनानन्द के शिष्यों ने तत्त्वज्ञान हो जाने से विवेक जग जाने से अब तक की अवधि में किये गये अपने दुराचारों पर बारम्बार पश्चाताप प्रकट किया। अब सन्मार्ग प्राप्त हो जाने से उनके हृदयों में विवेक रूपी सूर्य का उदय हो गया। आज तक किये गये मद्य मांस उपयोग आदि का पूर्णरूपेण परित्याग कर उन्होंने श्रीरामानन्द जी की शरण ग्रहण कर ली।